डा० बाबूराम त्रिपाठी

द्भगवद्गीता

श्रीमद्भगवद्गीता

(अध्याय : २, ३ तथा १२)

डा० बाबूराम त्रिपाठी
शास्त्री, एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत), पी-एच० डी०
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
सेण्ट जांस कालिज, आगरा

महालक्ष्मी प्रकाशन, आगरा-२

प्रकाशक :

महालक्ष्मी प्रकाशन

शहीद भगतसिंह मार्ग, आगरा–२

प्रथम संस्करण : १९७३–७४

मूल्य : १·५०

मुद्रक :

उपाध्याय प्रेस

शहीद भगतसिंह मार्ग, आगरा–२

दो शब्द

संस्कृत साहित्य में श्रीमद्भगवद्गीता का क्या स्थान है, और मानव जीवन के लिये इसकी क्या उपयोगिता है? इस विषय में यहाँ कुछ कहना सर्वथा अनावश्यक है, यह वह ग्रन्थरत्न है जिसके महत्त्व को आज समस्त विश्व जानता है और इसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करता है। भारतीय हिन्दू समाज में तो आज घर-घर में इस पुस्तक का धर्मग्रन्थ के रूप में पाठ होता है, अन्य लोग भी इसे दार्शनिक विचारों का वैज्ञानिक विवेचनात्मक ग्रन्थ समझकर अध्ययन करते हैं। वस्तुतः गीता में सभी प्रकार के दार्शनिक विचारों का समन्वयात्मक दृष्टि से विचार किया गया है, पर इसका मुख्य प्रतिपाद्य अनासक्तकर्मयोग है, इसी दृष्टि से इसमें भिन्न-भिन्न दृष्टियों से विचार किया गया है, इसमें किसी मतमतान्तर के खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति नहीं है, अपितु इसमें सभी प्रकार के दार्शनिक एवं धार्मिक तत्वों पर निष्पक्षभाव से विचार व्यक्त किये गये हैं, अतएव यह मानव मात्र के लिये उपयोगी है।

इसकी लोकप्रियता का सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि अद्यावधि इस ग्रन्थ पर जितनी टीकायें लिखी गईं हैं, उतनी किसी भी अन्य ग्रन्थ पर नहीं लिखी गईं होंगीं, सभी दार्शनिक विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से भगवान् के इन महाकाव्यों पर विचार व्यक्त किये हैं और सबने अपने-अपने सिद्धान्तों के अनुसार इसमें से सामग्री ग्रहण की है, क्योंकि इसमें सभी के लिये सब कुछ है, क्योंकि गीता सभी शास्त्रों और उपनिषदों का सार तत्व है अतएव कहा जाता है "गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रचिन्तनैः।"

वस्तुतः गीता वह प्रकाश है जिससे मनुष्य संसार को तो वास्तविक रूप में देख और समझकर लोकाभ्युदय प्राप्त कर ही लेता है, पर वह इसके परम प्रकाश में अपने को भी जानकर निःश्रेयस को भी प्राप्त कर लेता है, अतः इससे बढ़कर और क्या हो सकता है। भगवान् कृष्ण द्वारा अर्जुन को दिया गया उपदेश वस्तुतः नारायण द्वारा नर को दिया गया

उपदेश है जिससे नर भी नारायण बन सके, यही गीता का परम ध्येय है, वैसे उसमें कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग का सुन्दर समन्वय है। थोड़े से शब्दों में आत्मविद्या का सच्चा मर्म समझा देने वाला गीता जैसा ग्रन्थरत्न विश्व साहित्य में दूसरा नहीं है। गीता वह ज्ञान-गंगा है जिसमें परमानन्द और परमशान्ति की तरंगें सदा लहराती रहती हैं, जहाँ से कोई प्यासा निराश नहीं लौटता, गीता सभी उपनिषदों का सार तत्व है :—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधी, 'भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

गीता के इन तीन अध्यायों की प्रस्तुत टीका केवल बी० ए० के परीक्षार्थियों की दृष्टि से लिखी गई है, जिससे कि श्लोकों का संक्षिप्त अर्थ वे समझ सकें इसीलिये इसमें अन्वय शब्दार्थ अनुवाद और श्लोकों का भावार्थ दिया गया है, इसमें दार्शनिक तथ्यों का विवेचन नहीं है, क्योंकि वह विषय अल्पज्ञ छात्रों की पहुँच के बाहर है, उन्हें केवल श्लोकों का तात्पर्यार्थ समझाने मात्र का प्रयास है। प्रत्येक अध्याय का क्या प्रतिपाद्य है? यह स्पष्ट करने का प्रयत्न है अधिक कुछ नहीं, गीता के इन श्लोकों के विविध दृष्टियों से भिन्न-भिन्न अर्थ हो सकते हैं, पर यहाँ सर्वसम्मत मूल पाठ तथा संक्षिप्त छात्रोपयोगी ही अर्थ दिया गया है जिसको कि छात्रों के लिये अपेक्षा है, विद्वज्जन इसमें अधिक खोजने का प्रयास न करें, यह केवल परीक्षार्थियों की ही पुस्तक है और इसे इसी दृष्टि से देखा जाना चाहिए। आशा है कि छात्र इससे लाभान्वित हो सकेंगे।

रामनवमी
चैत्रसुदी सं० २०३०

—**बाबूराम त्रिपाठी**

श्रीमद्भगवद्गीता

द्वितीयोऽध्यायः

प्रसंग—जब महाभारत की संग्राम भूमि में शोक से अत्यन्त उदविग्न होकर, धनुष वाण छोड़कर अर्जुन रथ के मध्यभाग में बैठ गये, तब आगे क्या हुआ ? इस बात को बतलाते हुये संजय, जिन्हें दिव्य दृष्टि प्राप्त थी, धृतराष्ट्र से कहते हैं—

तं तथा कृपयाविष्ट, मश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्त मिदं वाक्य, मुवाच मधुसूदनः ॥१॥

अन्वय—तथा कृपयाविष्टम्, अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्, विषीदन्तम् तम् मधुसूदनः इदम् वाक्यम् उवाच ।

शब्दार्थ—कृपयाविष्टम्=बन्धु स्नेह जनित करुणाभाव युक्त कायरता से व्याप्त, अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्=जिसके नेत्र आँसुओं से भरे हुये तथा व्याकुल हो रहे थे, (बन्धु नाश की आशंका से) विषाद करते हुए ।

अनुवाद—पूर्वोक्त प्रकार से (प्रथमाध्याय में वर्णित अर्जुन के शोक से) करुणा से व्याप्त, तथा जिसके नेत्र आँसुओं से भरे हुये एवं व्याकुल हैं (ऐसे) विषाद करते हुये उस अर्जुन से श्रीकृष्ण ने यह वचन कहा ।

भावार्थ—अर्जुन को जब भगवान् कृष्ण ने, संग्राम भूमि में, वन्धुविनाश की आशंका से शोक संविग्न तथा अश्रुपूर्ण नेत्रों से युक्त एवं शोकसंतप्त देखा, तो उन्होंने उन्हें आश्वासन देते हुये, यह कहा ।

प्रसंग—अर्जुन को शोक सन्तप्त देखकर भगवान् कृष्ण कहते हैं—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्ट मस्वर्ग्य मकीर्तिकर मर्जुन ॥२॥

अन्वय—हे अर्जुन ! त्वा विषमे इदम् कश्मलम् कुतः समुपस्थितम् (यच्च) अनार्यजुष्टम् अस्वर्ग्यम् अकीर्तिकरम् (अस्ति)

शब्दार्थ—त्वा-त्वाम् =तुमको, विषमे =असमय में अथवा संकटकाल में, कश्मलम् =मोह, अनार्यजुष्टम् =श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा अनाचरित, अस्वर्ग्यम् = स्वर्ग को न देने वाला अर्थात् अधर्म युक्त, अकीर्तिकरम् =अपयश देने वाला ।

अनुवाद—हे अर्जुन ! तुमको संकट काल में यह मोह कहाँ से आ उपस्थित हुआ अर्थात् किस कारण तुमको यह मोह प्राप्त हुआ है । (यह मोह) श्रेष्टजनों द्वारा अनाचरित, अधर्मयुक्त एवं अपयश देने वाला है ।

भावार्थ—भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि संग्राम भूमि में शत्रुओं के समक्ष इस प्रकार का वन्धु स्नेह जनित मोह होना सर्वथा अपयश देने वाला, अधर्म युक्त एवं श्रेष्ठजनों द्वारा निन्द्य है, ऐसे समय यह मोह नहीं होना चाहिये था ।

प्रसंग—इसलिये भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को उत्तेजित करते हुये युद्ध के लिए प्रेरित करते हैं—

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ, नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥३॥

अन्वय—हे पार्थ ! क्लैव्यम् मा गमः स्म, एतत् त्वयि न उपपद्यते, क्षुद्रम् हृदयदौर्वल्यम् त्यक्त्वा हे परन्तप ! उत्तिष्ठ ।

शब्दार्थ—क्लैव्यम् =कायरता-नपुंसकता को, मा स्म गमः =न प्राप्त हो, एतत् त्वयि न उपपद्यते =तुम्हारे में यह उचित नहीं है । क्षुद्रम् =तुच्छ, हृदयदौर्वल्यम् =हृदय की दुर्बलता को, परन्तप =शत्रुओं को सन्तप्त करने वाले ।

अनुवाद—हे पृथा पुत्र अर्जुन ! नपुंसकता अर्थात् कायरता को मत प्राप्त हो, अर्थात् संग्राम भूमि में ऐसी कायरता मत धारण करो, यह बात तुम्हारे विषय में उचित नहीं है, इस तुच्छ हृदय दुर्बलता को छोड़कर उठ बैठो अर्थात् हे परन्तप ! युद्ध के लिये प्रस्तुत हो जाओ ।

भावार्थ—भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि संग्राम भूमि में ऐसी कायरता तुम्हारे जैसे शत्रु सन्तापकारी वीर पुरुष में शोभा नहीं देती, यह तो तुच्छ हृदय की दुर्बलता है, इसे छोड़ दो और युद्ध के लिये सनद्ध हो जाओ ।

प्रसंग—भगवान् के उक्त कथन को सुनकर, गुरुजनों के साथ युद्ध को अनुचित बतलाते हुये अर्जुन कहते हैं—

कथं भीष्म महं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ! ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हा वरिसूदन ! ।।४।।

अन्वय—हे मधुसूदन ! अहम् संख्ये कथम् इषुभिः भीष्मम् द्रोणम् च प्रतियोत्स्यामि (यतः) हे अरिसूदन (इमौ) पूजार्हौ (स्तः) ।

शब्दार्थ—संख्ये=संग्राम में, इषुभिः=वाणों से, प्रतियोत्स्यामि=विरुद्ध युद्ध करूँगा । अरिसूदन=शत्रुओं का दमन करने वाले, पूजार्हौ=पूजा के योग्य ।

अनुवाद—हे मधुसूदन भगवान् कृष्ण ! मैं संग्राम में किस प्रकार वाणों से भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य के विरुद्ध युद्ध करूँगा (क्योंकि ये दोनों तो) पूजा के योग्य हैं ।

भावार्थ—पूजनीय गुरु द्रोणाचार्य एवं भीष्म पितामह से तो वाणी द्वारा भी यह कहना कि मैं युद्ध करूँगा, अनुचित है तब संग्राम भूमि में सामने खड़े होकर उनके विरुद्ध वाणों से युद्ध करना तो सर्वथा अनुचित ही है, अतः पूज्य जनों के साथ मैं ऐसा व्यवहार कैसे कर सकता हूँ ।

प्रसंग—गुरुजनों का वध करके राज्य प्राप्त करने की अपेक्षा तो भिक्षा माँग कर जीवित रहना ही श्रेयस्कर है, इसी भाव को प्रकट करते हुये अर्जुन कहते हैं—

गुरुनहत्वा हि महानुभावान्,
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरुनिहैव,
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ।।५।।

अन्वय—हि महानुभावान् गुरुन् अहत्वा इह लोके भैक्ष्यम् अपि श्रेयः । गुरुन् हत्वा तु इह रुधिरप्रदिग्धान् अर्थकामान् भोगान् एव भुञ्जीय ।

शब्दार्थ—अहत्वा=न मारकर, भैक्ष्यम्=भिक्षा से प्राप्त अन्न को, भोक्तुं श्रेयः=खाना कल्याण कर है, रुधिरप्रदिग्धान्=रक्त से सने हुये, अर्थकामान् भोगान्=अर्थ काम रूप भोगों को, भुञ्जीय=भोगूँगा ।

अनुवाद—अतः महानुभाव द्रोणभीष्म आदि गुरुजनों को न मारकर इस लोक में भिक्षान्न का खाना भी श्रेयस्कर है, किन्तु गुरुजनों को मारकर भी

तो इस लोक में रक्त से सने हुए अर्थ और काम रूप भोगों को ही तो भोगूँगा ।

भावार्थ—परलोक विरुद्ध गुरुवध न करके तो इस लोक में भिक्षान्न खाना भी कल्याणकर है, यद्यपि क्षत्रिय के लिये भिक्षा द्वारा शरीर निर्वाह सर्वथा निन्दनीय है तथापि गुरुवध करके राज्य भोगने की अपेक्षा तो यह निन्दास्पद कर्म भी कहीं अच्छा है। क्योंकि अनुचित भी गुरुवध करके मिलेगा भी क्या ? न तो मुक्ति ही मिलेगी और न स्वर्ग ही, केवल इसी लोक में अर्थ और काम रूप भोग ही तो मिलेंगे और वे भी गुरु रक्त से सने हुए होंगे, जिनका मूल्य इन महानुभाव गुरुजनों के जीवन के सामने कुछ भी नहीं है। अतः गुरुवध सर्वथा अनुचित है ।

प्रसंग—इस प्रकार यद्यपि गुरुवध अनुचित है, तथापि यदि इस अधर्म को स्वीकार भी कर लिया जाय तो भी यह निश्चय भी तो नहीं कि हमारी ही जय होगी ? अतः अर्जुन श्री कृष्ण से कहते हैं—

न चैतद् विदमः कतरन्नो गरीयो,
यद वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषामः
तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

अन्वय—न च एतद् विद्मः नः कतरद् गरीयः (अस्ति) यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः, यान् एव हत्वा (वयम्) न जिजीविषामः, ते धार्तराष्ट्राः प्रमुखे अवस्थिताः (सन्ति) ।

शब्दार्थ—विद्मः=जानते हैं, नः=हमारे लिये, कतरत्=इन दो में से कौन, गरीयः=अधिकतर सम्भव है या अधिक अच्छा है, यद्वा=अथवा, जयेम=इनको हम लोग जीतेंगे, यदि वा=अथवा, नो जयेयुः=वे लोग हम लोगों को जीतेंगे, जिजीविषामः=जाने की इच्छा करते है, प्रमुखे=सामने, अवस्थिताः=खड़े हैं।

अनुवाद—न तो हम यह जानते हैं कि हमारे लिये युद्ध करना अथवा युद्ध न करना—इन दोनों में से कौन अधिक अच्छा है, अथवा इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि जय और पराजय में से हमारे लिए क्या अधिकतर सम्भव है हम यह भी नहीं जानते। (साथ ही हम यह भी नहीं कह सकते

कि) हम लोग उन अपने शत्रुओं को जीत लेंगे अथवा वे हम लोगों को जीतेंगे। और जिन लोगों को मारकर हम जीना भी नहीं चाहते वही धृतराष्ट्र पुत्र हमारे सामने खड़े हैं।

भावार्थ—अर्जुन का तात्पर्य है कि हम नहीं जानते कि युद्ध करना ठीक है या नहीं, हम जीतेंगे या हमारे शत्रु, यह भी हम नहीं जानते। यदि मान भी लिया जाय कि युद्ध करना क्षत्रिय धर्म है तो भी तो यह निश्चय नहीं कि जीत किसकी होगी। और यदि यह भी मान लें कि जीत भी हमारी होगी तो भी तो युद्ध करना अनुचित प्रतीत होता है, क्योंकि हमारे आत्मीय ही तो युद्ध करने के लिये सामने खड़े हैं, यदि जीत भी होगी तो इनको ही तो मारकर होगी, जो कि कुलक्षय जनित महापाप कहा जा सकता है।

प्रसंग—इस प्रकार निर्णय पर न पहुँचने के कारण अन्त में अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण से अपना कर्तव्य जानने के लिये प्रार्थना करते हुये कहते हैं—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः,
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे,
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥७॥

अन्वय—कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः (अहम्) धर्मसमूढचेताः (सन्) त्वाम् पृच्छामि, (अतः) यत् में निश्चितम् श्रेयः स्यात् तद् ब्रूहि, ते अहम् शिष्यः, त्वाम् प्रपन्नम् माम् शाधि।

शब्दार्थ—कार्पण्य दोषोपहत स्वभावः=करुणायुक्त कायरता तथा कुल-क्षय जनित दोष भय से जिसका अपना क्षत्रिय स्वभाव अभिभूत हो गया है, धर्मसंमूढचेताः=कर्तव्याकर्तव्य के यथार्थ निर्णय में जिसका अन्तःकरण सर्वथा असमर्थ हो गया है। यन्मे निश्चितं श्रेयः स्यात्=जो साधन मेरे लिये निश्चित् रूप से कल्याणकर हो, त्वां प्रपन्नं माम् शाधि। आपकी शरण में आये हुये मुझे अनुशासित कीजिये।

अनुवाद—करुणायुक्त कायरता तथा कुलक्षय जनित दोष भय से जिस मेरा क्षत्रिय स्वभाव अभिभूत हो गया है, (ऐसा मैं) कर्तव्याकर्तव्य के विषय में अनिश्चित मन वाला (होकर) आप से पूंछता हूँ, मेरे लिये जो साधन

निश्चयतः कल्याणकर हो वह बतलाइये, मैं आपका शिष्य हूँ, अतः आपकी शरण में आये हुये मुझे अनुशासित कीजिये ।

भावार्थ—अर्जुन कहते हैं कि वस्तुतः मैं इस समय कर्तव्याकर्तव्य ज्ञान शून्य हो रहा हूँ, कार्पण्यदोष से मेरा क्षत्रिय स्वभाव भी अभिभूत हो गया है, अतः आप ही अब मुझे उचित मार्ग का निर्देश करें, मैं आपकी शरण में आया हूँ, आपका शिष्यत्व स्वीकार करता हूँ, अतः आप मुझे कर्तव्य मार्ग का उपदेश करें ।

प्रसंग—उक्त प्रार्थना का हेतु बतलाते हुये अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण से कहते हैं—

नहि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्,
यच्छोक मुच्छोषण मिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमाव सपत्न मृद्धं,
राज्यं सुराणा मपि चाधिपत्यम् ।। ८ ।।

अन्वय—भूमौ असपत्नम् ऋद्धम् राज्यम् सुराणाम् अपि आधिपत्यम् च अवाप्य (अहम्) हि (तत्साधनम् कर्म वा) न प्रपश्यामि, यत् इन्द्रियाणाम् उच्छोषणम् मम शोकम् अपनुद्यात् ।

शब्दार्थ—असपत्नम्=शत्रुरहित-निष्कण्टक, ऋद्धम्=धनधान्य-सम्पन्न, अवाप्य=प्राप्तकर, इन्द्रियाणाम् उच्छोषणम्=इन्द्रियों को अतिशोषण करने वाले, अपनुद्यात्=दूर कर सके ।

अनुवाद—पृथिवी पर निष्कण्टक, धनधान्यपूर्ण राज्य को तथा देवताओं के स्वामित्व को भी प्राप्त कर (मैं) उस साधन या कर्म को भली भाँति नहीं देख रहा हूँ, जोकि इन्द्रियों का अतिशोषण करने वाले मेरे शोक को दूर कर सके ।

भावार्थ—अर्जुन का तात्पर्य है कि भले ही मैं इस लोक और स्वर्गलोक के स्वामित्व को प्राप्त कर लूं, पर इन्द्रियों को विक्षुब्ध करने वाले अपने शोक को दूर करने का उपाय मैं नहीं देख रहा हूँ, जिससे कि मैं सुखानुभव कर सकूं ।

प्रसंग—इसके बाद अर्जुन ने क्या किया, इसी बात का वर्णन करते हुये सञ्जय कहते हैं—

एव मुक्त्वा हृषीकेशं, गुडाकेशः परन्तप ।
न योत्स्य इति गोविन्द, मुक्त्वा तूष्णीं बभूब ह ॥९॥

अन्वय—हे परन्तप ! एवं हृषीकेशम् उक्त्वा गुड़ाकेशः (अहम्) न योत्स्ये, इति गोविन्दम् उक्त्वा तूष्णीं बभूब ।

शब्दार्थ—गुडाकेशः=निद्रा को जीतने वाला, परन्तपः=शत्रुओं को सन्तप्त करने वाला, तूष्णीं बभूव=चुप हो गया ।

अनुवाद—हे परन्तप धृतराष्ट्र ! हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्ण से इस प्रकार कह कर, निद्राजयी अर्जुन, श्री गोविन्द भगवान् से, "मैं युद्ध नहीं करूँगा" कह कर चुप हो गये ।

प्रसंग—अर्जुन के चुप हो जाने पर श्री कृष्ण ने क्या किया ? यह बतलाते हुये सञ्जय कहते हैं—

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयो मध्ये विषीदन्त मिदं वचः ॥१०॥

अन्वय—हे भारत ! हृषीकेशः उभयोः सेनयोः मध्ये विषीदन्तम् तम् प्रहसन् इव इदम् वचः उवाच ।

अनुवाद—हे भरतवंशी धृतराष्ट्र ! हृषीकेश श्री कृष्ण ने, दोनों सेनाओं के बीच विषाद करते हुये उन अर्जुन से हँसते हुये यह वचन कहा ।

प्रसंग—चिन्तानिमग्न अर्जुन द्वारा अपनी शोकनिवृत्ति का उपाय पूँछने पर श्रीकृष्ण उन्हें तत्वज्ञान का अधिकारी समझ कर, उनके शोक मोह को सदा के लिये दूर करने की दृष्टि से, पहले नित्यानित्य वस्तु विवेचना द्वारा उन्हें सांख्य योग का उपदेश देते हुये कहते हैं—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादाँश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूँश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

अन्वय—त्वम् अशोच्यान् अन्वशोचः प्रज्ञावादान् च भाषसे । (परम्) पण्डिताः गतासून् अगतासून् च न शोचन्ति ।

शब्दार्थ—अशोच्यान्=शोक न करने योग्य, अन्वशोचः=शोक करते हो, प्रज्ञावादान् च भाषसे=पण्डितों जैसे वचन कहते हो, गतासून्=जो मर चुके हैं, अगतासून्=जो नहीं मरे हैं ।

अनुवाद—तुम न शोक करने योग्य जनों के लिये शोक करते हो, और पण्डितों जैसे वचन कहते हो (किन्तु) पण्डितजन उन दोनों ही प्रकार के लोगों के लिये शोक नहीं करते, जो कि मर चुके हैं और जो कि नहीं मरे हैं अर्थात् जीवित हैं।

भावार्थ—अर्जुन ने "दृष्ट्वेनं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्। सीदन्ति मम गात्राणि मुखञ्च परिशुष्यति, वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते" इत्यादि श्लोकों द्वारा जो शोक प्रकट किया था तथा "कुतस्त्वा कश्मलमिदम्" इत्यादि द्वारा श्रीकृष्ण के सचेत करने पर भी जो "कथं भीष्ममहं संख्ये" इत्यादि श्लोक द्वारा अर्जुन ने गुरुजनों के साथ युद्ध करना अनुचित वतलाया था, इन्हीं सब बातों को लक्ष्य कर भगवान् कहते हैं कि वस्तुतः वे शोक करने योग्य नहीं हैं जिनके लिये तू शोक करता है, और साथ ही विद्वानों विज्ञजनों जैसी बातें भी करता है, पर वस्तुतः तू पण्डित नहीं, क्योंकि पण्डित जन तो जीवित या मृत किसी के लिये भी शोक नहीं करते, क्योंकि उनकी दृष्टि में तो केवल एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही नित्य एवं सत्य है शेष तो अनित्य एवं अनस्थिर है तो फिर शोक किसके लिये ? अतः तू पण्डित नहीं, केवल पण्डितों जैसी बातें ही करता है।

प्रसंग—अर्जुन को यह समझाने के लिये कि भीष्मादि का वध शोक करने योग्य नहीं है, भगवान् श्रीकृष्ण पहिले आत्मा की अमरता एवं नित्यता प्रतिपादित करते हुये कहते हैं—

न त्वेवाहं जातु नासं, न त्वं नेमे जनाधिपा।
न चैव न भविष्यामः सर्वे बयमतः परम् ॥१२॥

अन्वय—न तु एव अहम् जातु न आसम् न त्वम्, न इमे जनाधिपाः न च एव, अतः परं बयम् सर्वे न भविष्यामः।

शब्दार्थ—न तु एव=न तो ऐसा ही है, जातु=कभी-किसी काल में, न आसम्=नहीं था, न च एव=और न ऐसा ही है, अतः परम्=इसके बाद।

अनुवाद—न तो ऐसा ही है कि मैं (श्रीकृष्ण) कभी किसी काल में न था, तू नहीं था, ये राजा लोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इसके बाद अर्थात् इस जीवन के उपरान्त हम सब लोग नहीं होगे अर्थात् जन्म नहीं लेंगे। वस्तुतः हम सभी पहिले भी थे और इस जीवन के बाद भी रहेंगे।

भावार्थ—भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि जिन लोगों के लिये तुम शोक कर रहे हो उन सबका, तुम्हारा और हमारा भी इस जीवन के पूर्व किसी भी काल में अभाव न था और न इसके बाद भी कभी अभाव रहेगा, क्योंकि विनाश और उत्पत्ति तो शरीर ही की होती है, आत्मा तो सबका नित्य एवं अविनाशी ही है अतः आत्म रूप से हम सबका न कभी अभाव था और न कभी होगा अतः जीवित या मृत जनों के लिये शोक करना सर्वथा वृथा है।

प्रसंग—आत्मा को नित्यता सिद्ध करके प्रस्तुत श्लोक द्वारा भगवान् उसकी निर्विकारता का प्रतिपादन करते हैं—

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे, कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तर प्राप्ति र्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ १३॥

अन्वय—यथा देहिनः अस्मिन् देहे कौमारम् यौवनम् जरा (भवति) तथा देहान्तर प्राप्तिः (भवति) तत्र धीरः न मुह्यति।

शब्दार्थ—देहिनः=देहाभिमानी जीव अथवा जीवात्मा की, कौमारम्= कुमारावस्था, जरा=वृद्धावस्था, देहान्तर प्राप्तिः=अन्य शरीर की प्राप्ति। मुह्यति=मोहित होता है।

अनुवाद—जिस प्रकार जीवात्मा के इस शरीर में कुमारावस्था, यौवनावस्था एवं वृद्धावस्था (होतीं है) उसी प्रकार अन्य शरीर की प्राप्ति भी होती है। इस विषय में धीर पुरुष मोहित नहीं होता है।

भावार्थ—प्रस्तुत श्लोक द्वारा उन अज्ञानियों के इस भ्रम का निवारण किया गया है जो कि अज्ञानतः यह मानते हैं कि मरने के बाद आत्मा को एक शरीर छोड़कर दूसरे शरीर में जाना पड़ता है अतः उसे आने जाने का कष्ट भी अनुभव करना पड़ता है और फलतः वह विकारी भी है, क्योंकि उसे विविध प्रकार के शरीरों में जाना पड़ता है। वस्तुतः आत्मा का शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं है। जिस प्रकार कुमारादि अवस्थायें स्थूल शरीर की होती हैं आत्मा की नहीं उसी प्रकार शरीरान्तर प्राप्ति सूक्ष्म शरीर को ही होती है आत्मा को नहीं, आत्मा पर तो भ्रमवश आरोप कर लिया जाता है। यही कारण है कि अज्ञानी देहान्तर प्राप्ति पर शोक करते हैं, पर ज्ञानी आत्मज्ञ पुरुष इसके लिये कदापि शोक नहीं करते, उनकी दृष्टि में तो आत्मा नित्य एवं अविकारी है।

प्रसंग— उक्त प्रकार से आत्मा की नित्यता एवं निर्विकारता सिद्ध हो जाने पर भी बन्धुजनों के संयोग वियोग से सुख दुःख का होना तो प्रत्यक्षानुभव सिद्ध ही है, अतः शोक तो होगा ही ? इस जिज्ञासा का निराकरण करते हुये भगवान् संयोग वियोगादि जन्य सुख दुःखों को अनित्य बतलाकर उनके सहन करने का उपदेश देते हैं—

मात्रा स्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्ण सुख दुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्या स्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥

अन्वय—हे कौन्तेय ! शीतोष्णसुखदुःखदाः मात्रास्पर्शाः तु आगमापायिनः अनित्याः (सन्ति) हे भारत ! तान् तितिक्षस्व ।

शब्दार्थ—कौन्तेय=कुन्तीपुत्र अर्जुन, शीतोष्णसुखदुःखदाः=शीत गर्मी सुख तथा दुःख देने वाले, मात्रास्पर्शाः=इन्द्रिय वृत्तियों के विषयों से सम्बन्ध (मीयन्ते ज्ञायन्ते विषया आभिरिति मात्राः इन्द्रियवृत्तयः, तासां स्पर्शाः विषयैः सह सम्बन्धाः इति मात्रास्पर्शाः अर्थात् इन्द्रियों के अपने अपने विषयों से सम्बन्ध । आगमापायिनः=आने जाने वाले अर्थात् उत्पत्ति विनाशशील, तितिक्षस्व=सहन करो ।

अनुवाद—हे कुन्ती पुत्र अर्जुन । शीतता उष्णता सुख एवं दुःख देने वाले, इन्द्रियों के विषय सम्बन्ध तो उत्पत्ति विनाशशाली हैं अतएव वे अनित्य हैं, हे भारत ! तुम उनको सहन करो ।

भावार्थ—जिसके द्वारा किसी वस्तु का माप या ज्ञान प्राप्त किया जाता है उसे मात्रा कहते हैं । स्पर्शाः का अर्थ है—विषयों के साथ सम्बन्ध, अतः मात्रा स्पर्शाः का अर्थ है—अन्तः करण सहित सभी इन्द्रियों के अपने-अपने शब्दादि विषयों के साथ सम्बन्ध । शीतोष्णसुखदुःखदाः पद में कथित शीत उष्ण आदि सभी द्वन्द्वों के उपलक्षण हैं अर्थात् शीत उष्ण, हर्ष शोक, राग द्वेष, सुख दुःख, अनुकूल प्रतिकूल, शुभ अशुभ, गुण दोष, संयोग वियोग इत्यादि । शीतोष्णादिप्रद ये सभी इन्द्रिय विषय सम्बन्ध उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते रहते है अतएव ये सभी अनित्य हैं । अतः इन संयोग वियोगादि अनित्य द्वन्द्वों को हर्ष शोक से रहित होकर सहन ही करना चाहिये, क्योंकि ये सदा तो रहेंगे ही नहीं ।

प्रसंग—उक्त द्वन्द्वों के सहन करने का फल बतलाते हुये, भगवान् ... से कहते हैं—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ।। १५ ।।

अन्वय—हि, हे पुरुषर्षभ ! समदुःखसुखम् यम् धीरम् पुरुषम् एते न व्यथयन्ति सः अमृतत्वाय कल्पते ।

शब्दार्थ—पुरुषर्षभ=पुरुषों में श्रेष्ठ, सम दुःख सुखम्=दुःख सुख को समान समझने वाले, एते=इन्द्रियों के विषय सम्बन्ध, न व्यथयन्ति=व्यथित नहीं करते । अमृतत्वाय=मोक्ष के लिये, कल्पते=योग्य होता है ।

अनुवाद—हे पुरुष श्रेष्ठ अर्जुन ! सुख दुःख को समान समझने वाले जिस धीर पुरुष को ये इन्द्रियों के विषय सम्बन्ध व्यथित नहीं करते हैं, वह पुरुष मोक्ष के योग्य होता है ।

भावार्थ—इन्द्रियों के विषय सम्बन्धों को अनित्य समझ कर उपेक्षाभाव से इनको सहन करने वाला तथा इनसे विक्षुब्ध न होने वाला ही पुरुष मोक्ष के लिये उपयुक्त होता है । अर्थात् जब किसी भी इन्द्रिय के अपने भोग्य विषय से सम्बन्ध होने पर पुरुष में कोई विकार नहीं होता तभी उसे धीर एवं मोक्ष भागी समझना चाहिये ।

प्रसंग—आत्मा की नित्यता एवं निर्विकारता तथा इन्द्रिय विषयों संयोगादि—की अनित्यता प्रतिपादित कर प्रस्तुत श्लोक द्वारा नित्यानित्य वस्तु के विवेचन की रीति बतलाते हुये भगवान् कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्त स्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ।।१६।।

अन्वय—असतः भावो न विद्यते, सतः अभावः न विद्यते । तत्त्वदर्शिभिः उभयोः अपि अनयोः अन्तः दृष्टः ।

शब्दार्थ—असतः=असद् वस्तु का अर्थात् परिवर्तनशील शरीर इन्द्रिय, इन्द्रिय विषय-संयोगादि-तथा समस्त जडवर्ग का, भावः=सत्ता-स्थिति, सतः =सद् वस्तु का अर्थात् परमातम तत्व का, उभयोरपि अनयोः=इन दोनों ही असद् और सद् वस्तुओं का, अन्तः=तत्त्व या निर्णय ।

अनुवाद—असद् वस्तु की तो सत्ता नहीं है और सद् वस्तु का अभाव नहीं है, इन दोनों ही असत् सत् वस्तुओं का तत्व ज्ञानियों द्वारा देख लिया गया है।

भावार्थ—तत्त्वज्ञानियों द्वारा जबकि यह निश्चय कर दिया गया है कि शरीरादि असद् वस्तुओं की सत्ता नहीं होती, न वे पहिले कभी थीं और न कभी होगीं, अतः वर्तमान काल में उनकी प्रतीति भी वास्तविक नहीं है तो फिर असद्भूत भीष्मादि के शरीरों के लिये शोक करना व्यर्थ है। आत्म रूप जो सद् वस्तु है उसका कभी अभाव नहीं होता तो फिर आत्म रूप से भीष्मादि के विनाश की आशंका करना भी अनुचित है, क्योंकि भीष्मादि का आत्मरूप से तो कभी विनाश होगा ही नहीं।

प्रसंग—पूर्वोक्त सत् तत्त्व का निरूपण करते हुए भगवान् कहते हैं—

अविनाशि तु तद् विद्धि, येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

अन्वय—अविनाशि तु तद् विद्धि, येन इदम् सर्वम् ततम्। अस्य अव्ययस्य विनाशम् कश्चित् कर्तुम् न अर्हति।

शब्दार्थ—इदम् सर्वम्=यह सब अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, मन, समस्त भोग्य पदार्थ और भोगस्थान आदि सम्पूर्ण जडसमूह।

येन ततम्=जिस चेतन ब्रह्म तत्व से व्याप्त है। तद्=उस चेतन या सत्-तत्व को, अविनाशि विद्धि=कभी विनष्ट न होने वाला समझो। अव्ययस्य=उत्पत्ति-विनाश से रहित निर्विकार तथा अपरिणामी तत्त्व का।

अनुवाद—(हे अर्जुन) तू अविनाशी-सत् तत्व तो उस वस्तु को समझ, जिससे यह सब जडजगत् व्याप्त है- इस निर्विकार अक्षय परमात्म तत्व का कोई विनाश नहीं कर सकता है।

भावार्थ—केवल एकमात्र परमात्म तत्व ही अविनाशी अव्यय एवं सत् है शेष सब विनाशी एवं असत् है।

प्रसंग—पूर्वोक्त असद् वस्तु का निरूपण करते हुए भगवान् कहते हैं—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥

अन्वय—अनाशिनः अप्रमेयस्य नित्यस्य शरीरिणः इमे देहाः अन्तवन्तः उक्ताः। तस्मात् हे भारत युध्यस्व।

शब्दार्थ—अनाशिनः=जिसका कभी नाश न हो, अप्रमेयस्य=जो इयत्ता से परे-अपरिच्छिन्न एवं असीम है, शरीरिणः=शरीरधारी आत्मा के, इमे देहाः=ये समस्त शरीर, अन्तवन्तः=विनाशी।

अनुवाद—विनाशरहित, अपरिमेय, नित्यस्वरूप आत्मा के ये समस्त शरीर विनाशी कहे गये हैं- तस्मात् अर्थात् जब कि इनका नाश होना अनिवार्य ही है तो हे भरतवंशी अर्जुन ! युद्ध करो।

भावार्थ—जब यह निश्चय है कि आत्मा सत् तथा शरीरादि सब नाशवान् हैं तो फिर युद्ध करो, क्योंकि युद्ध न करने पर भी, तुम्हारे द्वारा इनके वध न करने पर भी तो इन शरीरों का नाश अवश्य ही होगा, तुम तो केवल निमित्तमात्र हो, इन शरीरों को धारण करने वाला आत्मा जो नित्य है उसका तो तुम युद्ध में इनका वध करके भी विनाश न कर सकोगे, तो फिर युद्ध करना ही श्रेयस्कर है।

प्रसंग—अर्जुन द्वारा कथित "एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन" वाक्य का उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं कि आत्मा को मरने या मारने वाला मानना केवल अज्ञान है—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१६॥

अन्वय—यः एनम् हन्तारम् वेत्ति, यः च एनं हतम् मन्यते, उभौ तौ न विजानीतः, न अयम् हन्ति न च हन्यते।

अनुवाद—जो इस आत्मा को मारने वाला समझता है, और जो इसे मरा हुआ मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते, (क्योंकि वास्तव में) यह आत्मा न तो (किसी को) मारता है और न (स्वयं) मारा जाता है।

भावार्थ—आत्मा नित्य एवं अविनाशी है, अतः न यह किसी को मारता है और न स्वयं मरता ही है। स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर का अलग होना ही मरना है, अतः मरने वाला स्थूल शरीर ही होता है, आत्मा नहीं, इसी प्रकार जिस स्थूल शरीर की क्रिया से किसी अन्य स्थूल शरीर का वियोग

किया जाता है उसे मारने वाला कहते है, यह आत्मा अतएव मारने वाला भी नहीं हैं। पर जीवन मरण रूप शरीर के कार्यों को आत्मा पर आरोपित कर अज्ञानी जन ही आत्मा को मरने मारने वाला कहने लगते हैं।

प्रसंग—"नायं हन्ति न हन्यते" इस वाक्य का स्पष्टीकरण करते हुये भगवान आत्मा में सब प्रकार के विकारों का अभाव बतलाते हैं—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥२०॥

अन्वय—अयं कदाचित् न जायते न वा म्रियते, (तथा) न (अयं) भूत्वा भूयः भविता वा (यतः) अयं, अजः नित्यः शाश्वतः पुराणः (अस्ति अतः) शरीरे हन्यमाने न हन्यते।

शब्दार्थ—अयं भूत्वा भूयः भविता वा न=यह आत्मा उत्पन्न होकर फिर होने वाला भी नहीं है, शाश्वतः=सनातन।

अनुवाद—यह आत्मा किसी भी काल में न तो जन्म ही लेता है और न मरता ही है तथा न यह आत्मा उत्पन्न होकर (कभी) पुनः होने वाला ही है। यह आत्मा अजन्मा, नित्य स्वरूप, सनातन एवं पुरातन है, शरीर के मारे जाने पर भी यह आत्मा नहीं मारा जाता है।

भावार्थ—वस्तुतः प्रस्तुत श्लोक द्वारा भगवान् ने आत्मा में छः विकारों का, जो कि अनित्य वस्तुओं में सदा होते हैं, अभाव दिखलाया है। छः विकार हैं—उत्पत्ति, अस्तित्व (सत्ता में आना) वृद्धि (बढ़ना) विपरिणाम (रूपान्तर प्राप्ति) अपक्षय (क्षय होना या घटना) और नाश। वैसे तो 'जायते और म्रियते' शब्द ही विकारों के आदि और अन्तरूप में प्रयुक्त होने के कारण समस्त षड् विकारों के उपलक्षण हैं, पर फिर भी स्पष्टता की दृष्टि से इन सब के लिये पृथक् पृथक् शब्दों का भी निर्देश कर दिया गया है। 'अजः' उत्पत्त्य भाव के लिये, "भूत्वा भूयः न भविता" अस्तित्व रूप विकाराभाव के लिये, (आत्मा जन्म लेकर सत्ता वाला नहीं होता, अपितु वह स्वभावतः ही सत् है) "पुराणः" (चिरकालीन सदा एक रस रहने वाला) वृद्धयभाव के लिये, "शाश्वतः" (सदा एक रूप में स्थित रहने वाला) विपरिणामाभाव के लिये, 'नित्यः (अखण्ड सत्ता रूप) अपक्षयाभाव के लिये, तथा "न हन्यते हन्यमाने शरीरे" विनाशाभाव के लिये प्रयुक्त हैं।

प्रसंग—"नायमात्मा हन्यते नापि विकारं प्राप्नोंति" यह सिद्ध करने के बाद भगवान् प्रस्तुत श्लोक द्वारा 'नायं हन्ति' को बतला रहे हैं—

वेदा बिनाशिनं नित्यं य एन मज मव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

अन्वय—यः (पुरुषः) एनम् (आत्मानम्) अविनाशिनम् नित्यम् अजम् अव्ययम् वेद, हे पार्थ ! स पुरुषः कथम् कम् घातयति (कथम्) कम् हन्ति ।

शब्दार्थ—वेद=जानता है, अव्ययम्=अपक्षय रहित, घातयति=दूसरे से मरवाता है, अर्थात् स्वयं प्रयोजन बनकर मारने के लिये दूसरे को प्रेरित करता है ।

अनुवाद—जो पुरुष इस आत्मा को विनाश रहित नित्य स्वरूप, अजन्मा एवं अपक्षय रहित जानता है, हे पार्थ, वह पुरुष कैसे किसका वध कराता है और कैसे किसको मारने के लिये प्रेरित करता है ।

भावार्थ—तात्पर्य यह कि जिसने आत्म स्वरूप को यथार्थतः जान लिया है और यह अनुभव कर लिया है कि आत्मा अजन्मा अव्यय तथा नित्य है, वह कैसे किसको मारता है अथवा स्वयं प्रयोजक बनकर दूसरे को वध के लिये प्रेरित करता है अर्थात् आत्मज्ञ पुरुष कभी भी न तो स्वयं मारता है और न दूसरे के वध में प्रयोजक ही बनता है । यह सब आत्मा पर अज्ञानतः आरोपित किया गया है । अतः किसी भी के लिये किसी प्रकार का भी शोक करना उचित नहीं है । यहाँ यह निर्देश भी समझना चाहिये कि भगवान् अर्जुन को यह भी समझाना चाहते हैं कि उसे मुझे भी प्रयोजक न समझना चाहिये ।

प्रसंग—आत्मा की नित्यता और शरीरादि की अनित्यता प्रमाणित हो जाने पर भी यह बात तो माननी ही पड़ती है कि मरने पर जब आत्मा को एक शरीर से दूसरे शरीर में जाना पड़ता है तो उसे कष्ट तो होता ही है अतः उसके लिये तो शोक करना ही पड़ेगा, इसी का समाधान करते हुये भगवान् कहते हैं—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा—
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

अन्वय—यथा नरः जीर्णानि वासांसि विहाय अपराणि नवानि (वासांसि) गृह्णाति, तथा देही जीर्णानि शरीराणि विहाय अन्यानि नवानि (शरीराणि) संयाति ।

शब्दार्थ—जीर्णानि बासांसि=फटे पुराने वस्त्रों को, देही=आत्मा, संयाति=प्राप्त करता है ।

अनुवाद—जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़कर दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण करता है, उसी प्रकार आत्मा पुराने शरीरों को त्यागकर दूसरे नये शरीरों को प्राप्त करता है ।

भावार्थ—मनुष्य द्वारा जीर्ण वस्त्रों को छोड़ कर नये वस्त्रों को धारण करने के समान ही आत्मा द्वारा एक शरीर को छोड़कर अन्य शरीर प्राप्त करना है अतः इसमें उसे कदापि कष्ट नहीं होता अतएव वह शोक करने योग्य नहीं ।

माता जिस प्रकार अज्ञानी बच्चे के रोने की चिन्ता न कर उसके स्वास्थ्य के लिये उसे नये वस्त्र पहना ही देती है, इसी प्रकार करुणामय भगवान् मनुष्य के कल्याण के लिये उसके दुःख की चिन्ता न कर उसके जीर्ण कलेवर को बदल कर नया शरीर दे देते हैं । यहाँ जीर्ण से तात्पर्य वृद्धावस्था से न होकर निश्चित आयु तक है, क्योंकि मरते तो युवा और बच्चे भी हैं ।

एक ही आत्मा अब तक न जाने कितने शरीर धारण कर चुका है और करेगा, इसी कारण 'शरीराणि' यह बहु वचनान्त प्रयोग है, अथवा स्थूल सूक्ष्म और कारण ये तीन शरीर होते हैं देहान्तर प्राप्ति में इन तीनों का त्याग करना पड़ता है अतः बहुवचनान्त प्रयोग है ।

देही के साथ संयाति का प्रयोग औपचारिक है, वस्तुतः आत्मा अचल और अक्रिय है, गमनागमन सूक्ष्म शरीर का ही होता है और उसके सम्बन्ध से घटाकाश की तरह आत्मा में गमनागमन की प्रतीति होती है ।

प्रसंग—आत्म तत्व के अतिदुर्विज्ञेय होने के कारण भगवान् पुनः उसकी नित्यता निराकारता एवं निर्विकारता का प्रतिपादन करने के लिये प्रस्तुत श्लोक द्वारा उसका अविनाशित्व बतलाते हैं—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
नैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

अन्वय—न एनम् (आत्मानम्) शस्त्राणि छिन्दन्ति, न एनम् पावकः दहति न एनम् आपः क्लेदयन्ति, न मारुतः शोषयति ।

शब्दार्थ—आपः=जल, क्लेदयन्ति=गीला करते हैं ।

अनुवाद—इस आत्मा को शस्त्र नहीं काट सकते, न अग्नि जला सकता है । न जल इसे गीला कर सकते है और न वायु सुखा सकता है ।

भावार्थ—आत्मा नित्य एवं निराकार है अतएव उसे पृथिव्यादि चारों महाभूत भी नष्ट नही कर सकते । अस्त्र-शस्त्र, अग्न्यस्त्र, वारुणास्त्र एवं वायव्यास्त्र अनित्य एवं साकार शरीरों को ही विनष्ट कर सकते हैं आत्मा को नहीं । अतः शोक करना व्यर्थ है ।

प्रसंग—उक्त भाव को ही प्रमाणित करते हुये भगवान् कहते हैं—

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम क्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

अन्वय—अयम् (आत्मा) अच्छेद्यः, अयम् अदाह्यः, अयम् अक्लेद्यः अशोष्यः एव चास्ति । नित्यः सर्वगतः स्थाणुः अचलः अयम् सनातनः चास्ति ।

शब्दार्थ—अच्छेद्यः=(अवयव रहित होने के कारण) न काटे जाने योग्य, अदाह्यः (निराकार होने के कारण) न जलाने योग्य, अक्लेद्यः=न गीला किये जाने योग्य, अशोष्यः=(द्रवीभूत न होने के कारण) न सुखाने योग्य, सर्वगतः =सर्वत्र व्याप्त, स्थाणुः=स्थिर स्वभाव वाला अर्थात् रूपान्तर को न प्राप्त होने वाला, अचलः=प्रथम रूप का न त्याग करने वाला, सनातनः अनादि ।

अनुवाद—यह आत्मा न काटे जाने योग्य है, न जलाने योग्य है, न गीला किये जाने योग्य है और न सुखाने ही योग्य है क्योंकि यह नित्य, सर्वत्र व्याप्त, रूपान्तर को प्राप्त न होने वाला, अचल एवं अनादि है ।

भावार्थ—अच्छेद्य आदि शब्दों के द्वारा आत्मा की नित्यता एवं निराकारता प्रतिपादित करने के बाद भी जो उत्तरार्ध में उसे पुनः नित्यः सर्वगतः आदि बतलाया गया है, इसका भाव यह है कि उक्त अच्छेद्य आदि तो आकाश भी है, अन्य समस्त महाभूतों का कारण होने से वह शेष चार महाभूतों के कार्यों से प्रभावित नहीं हो सकता है पर आत्मा इससे बिलक्षण है, आत्मा

नित्य है पर आकाश का महा प्रलय में नाश हो जाता है। आकाश केवल अपने कार्य मात्र में व्याप्त है जबकि आत्मा सर्वव्यापी है, आकाश अनादि भी नहीं जबकि आत्मा अनादि है। इस प्रकार आकाश से आत्मा को विलक्षण दिखला कर उसे स्थाणु और अचल भी कहा है क्योंकि वह न तो हिलता है और न चलता ही है।

प्रसंग—आत्मा के उक्त स्वरूपों के अतिरिक्त उसके अन्य स्वरूप का भी प्रतिपादन करते हुये भगवान् कहते हैं—

अव्यक्तोऽय मचिन्त्योऽय मविकार्योऽय मुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वेनं नानुशोचितु मर्हसि ॥२५॥

अन्वय—अयम् (आत्मा) अव्यक्तः, अयम् अचिन्त्यः अयम् अविकार्यः उच्यते, तस्मात् एनम् एवं विदित्वा न अनुशोचितुम् अर्हसि।

शब्दार्थ—अव्यक्तः=चक्षु आदि इन्द्रियों का अविषय, अचिन्त्यः=मन का भी विषय नहीं, अविकार्यः=आत्मा प्रकृति से भी विलक्षण है, समस्त इन्द्रियाँ और अन्तः करण तो प्रकृति के कार्य हैं वे अपनी कारण रूपा प्रकृति को विषय नहीं कर सकते अतः प्रकृति भी अव्यक्त एवं अचिन्त्य है पर आत्मा अव्यक्त और अचिन्त्य होते हुये भी अविकार्य भी है, क्योंकि इसमें कभी विकार नहीं होता जबकि प्रकृति में विकार होता है।

अनुवाद—यह आत्मा अव्यक्त अचिन्त्य एवं अविकारी कहा जाता है, इस लिये इस आत्मा को इस प्रकार का अर्थात् अव्यक्त, अचिन्त्य, अविकार्य, नित्य, सर्वगत, सनातन, पुरातन, अचल तथा स्थाणु जानकर तुम को शोक करना उचित नहीं है।

प्रसंग—उक्त प्रकार से यदि आत्मा अविनाशी है तब तो शोक करना ही नहीं चाहिए, पर यदि औपचारिक रूप से उसे उत्पत्ति विनाशशाली भी मान लें जैसाकि अज्ञानी पुरुष मानते हैं तब भी उसके लिये शोक न करना चाहिये, इस बात को भगवान् कृष्ण बतला रहे हैं—

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितु मर्हसि ॥२६॥

अन्वय—अथ च एनम् नित्यजातम् नित्यं वा मृतम् मन्यसे, तथापि हे महाबाहो! त्वम् एवम् शोचितुम् न अर्हसि।

शब्दार्थ—एनम् = इस आत्मा को, नित्यजातम् = सदा उत्पन्न होने वाला।

अनुवाद—और यदि तुम इस आत्मा को सदा उत्पन्न होने वाला और सदा मरने वाला भी मानते हो, तो भी हे महाबाहुशाली अर्जुन ! तुम्हें इस प्रकार शोक नहीं करना चाहिये।

भावार्थ—यद्यपि पूर्वोक्त प्रकार से आत्मा उत्पत्ति विनाश रहित नित्य एवं सनातन है, फिर भी यदि तुम इसे ऐसा नहीं मानते अपितु उत्पत्ति विनाशशील ही मानते हो तो भी तुम्हें इस प्रकार इसके लिये शोक करना उचित नहीं।

प्रसंग—पूर्व कथन में ही हेतु दिखलाते हुये भगवान् कहते हैं—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितु मर्हसि ॥२७॥

अन्वय—हि जातस्य मृत्युः ध्रुवः मृतस्य च जन्म ध्रुवम् तस्मात् अपरिहार्ये अर्थे त्वम शोचितु्ं न अर्हसि।

शब्दार्थ—जातस्य = उत्पन्न हुए की, ध्रुवः = निश्चित, अपरिहार्ये अर्थे = बिना उपाय वाले विषय में।

अनुवाद—क्योंकि उत्पन्न हुए की मृत्यु निश्चित है, और मरे हुए का जन्म भी निश्चित है अर्थात् जो उत्पन्न हुआ है वह अवश्य मरेगा और जो मर गया है वह अवश्य जन्म लेगा। इसलिये निरूपाय विषय में तुम शोक करने योग्य नही हो।

भावार्थ—भगवान् का यहाँ यह कथन प्रसंगतः अज्ञानियों के ही लिये है जो आत्मा को नित्य न मानकर उत्पत्ति विनाशशाली मानते है, परमार्थतः तो आत्मा न उत्पन्न होता और न मरता है, ज्ञानी पुरुष मरने के बाद मुक्त हो जाता है उसका फिर जन्म भी नही होता अज्ञानी ही मरकर पुनः जन्म लेते हैं, अतः यह सब कथन अज्ञानियों की दृष्टि से ही है।

प्रसंग—आत्मा को नित्य अथवा अनित्य मानने पर तो पूर्वोक्त प्रकार से शोक करना ही न चाहिये, इस बात को प्रतिपादित करने के बाद भगवान् प्रस्तुत श्लोक द्वारा यह बतला रहे हैं कि इन पार्थिव शरीरों के लिये भी शोक करना व्यर्थ है—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्त निधनान्येव तत्र का परिदेवना ।।२८।।

अन्वय—भूतानि अव्यक्तादीनि, अव्यक्तनिधनानि, व्यक्तमध्यानि एव (भवन्ति) हे भारत ! तत्र परिदेवना का ।

शब्दार्थ— भूतानि=समस्त प्राणि शरीर, अव्यक्तादीनि=जन्म से पूर्व अप्रकट अर्थात् वर्तमान स्थूल शरीरों से सम्बन्ध रहित, अव्यक्त निधनानि= मरने के बाद भी इन स्थूल शरीरों के सम्बन्ध से रहित, व्यक्त मध्यानि एव =वर्तमान काल में ही स्थूल शरीरों से सम्बद्ध, तत्र=इस स्थिति में, परिदेवना=शोक विलाप ।

अनुवाद—समस्त प्राणि शरीर जन्म से पूर्व अप्रकट, (वर्तमान शरीर सम्बन्ध से रहित) मरने के बाद भी अप्रकट (वर्तमान शरीर सम्बन्ध से रहित) केवल वर्तमान काल में ही प्रकट होते हैं, अर्थात् सभी प्राणी उत्पन्न होने से पूर्व और मरने के बाद वर्तमान शरीरों से रहित होते है केवल बीच के समय में ही इनका अपने अपने वर्तमान शरीरों से सम्बन्ध रहता है, अतः इस स्थिति में इन शरीरों के लिये भी, जो नित्य नहीं है, शोक करना व्यर्थ है ।

भावार्थ—जिस प्रकार स्वप्न की वस्तु स्वप्न के न तो पूर्व होती है और न स्वप्न दशा के बाद ही रहती है केवल स्वप्न दशा में ही वह दृष्टिगत होने से असत्य एवं अनित्य होती है उसी प्रकार प्राणिशरीरों की भी स्थिति है, अतः स्वप्नवत् नित्य सम्बन्ध से रहित इन शरीरों के लिये भी शोक करना व्यर्थ है ।

प्रसंग—यदि आत्मा का शरीर से सम्बन्ध नहीं और शरीर भी अशोच्य है तो फिर विद्वज्जन भी इसके लिये क्यों शोक करते है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर भगवान् कहते है कि आत्म तत्त्व के न जानने से ही ऐसी स्थिति है, क्योंकि आत्म तत्व बड़ा दुर्विज्ञेय है, वह अलौकिक एवं दुर्लभ है—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन,
माश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैन मन्यः श्रृणोति,
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ।।२९।।

अन्वय—कश्चित् एनम् आश्चर्यवत् पश्यति, तथैव च अन्यः (एनम्) आश्चर्यवत् वदति, अन्यः च एनम् आश्चर्यवत् शृणोति, श्रुत्वा अपि एनम् न च एव कश्चित् वेद ।

अनुवाद—कोई महापुरुष इस आतमा को आश्चर्य की भाँति देखता है, और उसी प्रकार कोई ही अन्य महापुरुष इसका (आत्म तत्त्व का) आश्चर्यवत् वर्णन करता है, तथा कोइ ही अन्य महापुरुष (अधिकारी श्रोता) इसको आश्चयवत् सुनता है। और कोई तो इसको सुनकर भी इसे नहीं जान पाता है ।

भावार्थ—वस्तुतः आत्म तत्व एक अतिदूर्विज्ञेय अलौकिक पदार्थ है अतएव सभी नहीं अपितु कोई ही एक विरला ही महापुरुष इसका दर्शन (ज्ञान) कर पाता है, फलतः वह भी इस अलौकिक अद्भुत आत्म तत्व को जो कि मनवुद्धि से भी परे है, आश्चर्यवत् देखता है, इसी प्रकार कोई अन्य महा-पुरुष, जिसने आत्म साक्षात्कार कर लिया है, और ब्रह्मनिष्ठ हो गया है, दूसरों को समझाने के लिये इस अलौकिक आत्मतत्व का वर्णन करता है। वस्तुतः अनुपमेय एवं अनिर्वचनीय आत्मतत्व का लौकिक उदाहरणों द्वारा बोध नहीं कराया जा सकता; फिर भी यथा कथञ्चित् तत्त्ववेत्ता जन विधि-निषेधात्मक वाक्य संकेतों द्वारा इसका बोध कराने का प्रयत्न करते हैं, यही आत्मतत्व निरुपण की अद्भुतता है। इसका श्रोता भी कोई ही शुद्ध-चित्त सदाचारी श्रद्धालु जिज्ञासु महापुरुष ही होता है, वह इस आत्मतत्व वर्णन को आश्चर्यवत् ही सुनता है, क्योंकि उसके लिये भी, यह अन्य समस्त अभ्यस्त एवं परिचित तथा उपयुक्त लौकिक पदार्थों से विलक्षण होने से, आश्चर्यजनक ही होता है। इतना होते हुए भी जिसका अन्तः करण शुद्ध और निर्मल नहीं होता है, वह इस आत्मतत्व को पुनः पुनः सुनकर भी नहीं जान पाता, अतएव आत्मतत्व दुर्विज्ञेय है ।

प्रसंग—अन्त में इस ज्ञानयोग का उपसंहार करते हुये भगवान् कहते है कि आत्मा नित्य है अतः अवध्य है इसलिये एतदर्थ शोक नहीं करना चाहिये ।

देही नित्य मवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितु मर्हसि ।।३०।।

अन्वय—हे भारत ! सर्वस्य देहे अयम् देही नित्यम् अवध्यः (अस्ति) तस्मात् सर्वाणि भूतानि त्वम् शोचितुम् न अर्हसि ।

शब्दार्थ—देही=देहधारी आत्मा, अवध्यः=न मारने योग्य ।

अनुवाद—हे अर्जुन ! सब के शरीर में आत्मा सदा ही अवध्य है अर्थात् इसे कोई मार नहीं सकता, इसलिये सभी प्राणियों के लिये अथवा सभी प्राणि शरीरों के लिये तुम शोक करने योग्य नहीं हो ।

भावार्थ—सभी प्राणियों के असंख्य शरीरों में केवल एक ही आत्मा है वह सदा अवध्य है, शरीरों के नाश होने पर भी उसका नाश कभी नहीं होता, अतः आत्मदृष्टि अथवा शरीर दृष्टि से किसी भी प्रकार तुम्हें शोक न करना चाहिए ।

प्रसंग—यहाँ तक ज्ञान योग के अनुसार, आत्मा, शरीर और आत्मा तथा शरीर के वियोग के लिये शोक करना अनुचित बतलाकर भगवान् ने अर्जुन को युद्ध के लिये प्रेरित किया, अब वे क्षत्रिय धर्मानुसार भी युद्ध को श्रेयस्कर बतलाते हुए कहते हैं—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितु मर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ।। ३१ ।।

अन्वय—स्वधर्मम् अपि च अवेक्ष्य (त्वम्) विकम्पितुम् न अर्हसि हि धर्म्यात् युद्धात् क्षत्रियस्य अन्यत् श्रेयः न विद्यते ।

शब्दार्थ—श्रेयः=कल्याणकर कार्य, धर्म्यात्=धर्म युक्त ।

अनुवाद—और अपने धर्म को भी देखकर तुम भयभीत होने योग्य नहीं हो, क्योंकि धर्म युक्त युद्ध से (बढ़कर) क्षत्रिय के लिये दूसरा कल्याण मार्ग नहीं है ।

प्रसंग—धर्म युद्ध को श्रेयस्कर बतलाते हुये भगवान् कहते हैं—

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वार मपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ।। ३२ ।।

अन्वय—हे पार्थ ! यदृच्छया च उपपन्नम् अपावृतम् स्वर्ग द्वारम् ईदृशम् युद्धम् सुखिनः क्षत्रियाः लभन्ते ।

शब्दार्थ—यदृच्छया=अपने आप–स्वेच्छा से, उपपन्नम्=प्राप्त, अपावृतम्=खुला हुआ, सुखिन:=भाग्यवान् ।

अनुवाद—हे अर्जुन ! अपने आप प्राप्त हुये तथा खुले हुये स्वर्ग के द्वार रूप इस प्रकार के युद्ध को भाग्यवान् क्षत्रिय जन ही प्राप्त करते हैं ।

भावार्थ—तात्पर्य यह कि यह ऐसा युद्ध बिना तुम्हारी इच्छा के ही अपने आप तुम्हे प्राप्त हुआ है, तुम्हारी सन्धि याचना को ठुकरा कर दुर्योधन ने इसे तुम्हारे लिये प्रस्तुत किया है, अर्थात् तुम इसके लिये वाध्य किये गये हो अतएव यह धर्मयुद्ध है इससे तुम्हें स्वर्ग की प्राप्ति ही होगी, कोई पाप न लगेगा, भाग्यवान् क्षत्रिय को ही इस प्रकार का स्वर्गप्रद युद्ध प्राप्त होता है ।

प्रसंग—युद्ध की उपयोगिता वताकर अब भगवान् ऐसे धर्मयुक्त युद्ध के न करने से हानि का निर्देश करते हुए कहते हैं—

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ।। ३३ ।।

अन्वय—अथ चेत् त्वम् इमम् धर्म्यम् संग्रामम् न करिष्यसि, ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापम् अवाप्स्यसि ।

शब्दार्थ—अथ चेत्=और यदि, हित्वा=खोकर, अवाप्स्यसि=प्राप्त करोगे, धर्म्यम्=धर्म युक्त ।

अनुवाद—और यदि तुम इस धर्मयुक्त युद्ध को न करोगे तो तुम अपने धर्म और अपने यश को खोकर पाप प्राप्त करोगे अर्थात् पाप भागी होगे ।

भावार्थ—धर्मयुद्ध होने के कारण यह युद्ध अवश्यकरणीय है, यदि यह धर्माचरण न किया गया तो यह धर्म त्याग ही कहा जायेगा, इससे तुम धर्म त्यागी बनोगे, फलतः तुम्हारी कीर्ति नष्ट होगी और धर्मत्याग के फल स्वरूप तुम पाप के भागी भी बनोगे ।

प्रसंग—उक्त प्रसंग में ही भगवान् कहते हैं—

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
सम्भावितस्य चाकीर्ति र्मरणादतिरिच्यते ।। ३४ ।।

अन्वय—भूतानि ते अव्ययाम् अकीर्तिम् च अपि कथयिष्यन्ति, सम्भावितस्य अकीर्तिः च मरणात् अपि अतिरिच्यते ।

शब्दार्थ—भूतानि=लोग, अव्ययाम्=चिरकाल तक रहने वाली, अकीर्तिम्=अपयश, निन्दा, सम्भावितस्य=मान्य पुरुष की, अतिरिच्यते=बढ़कर होती है।

अनुवाद—और लोग बहुत समय तक रहने वाला तुम्हारा अपयश कहेंगे अर्थात् चिरकाल तक सभी लोग (न केवल मानव, देवता और ऋषि जन भी) तुम्हारी निन्दा करेंगे। मान्य पुरुष की अपकीर्ति मरण से भी बढ़कर होती है।

भावार्थ—जिससे सभी लोग धर्म पालन तथा वीरोचित कार्य की आशा रखते हैं ऐसा व्यक्ति यदि अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता तो उसकी निन्दा होती है और उसकी यह निन्दा चिरस्थायिनी भी होती है अतएव साधारण भले ही ऐसी निन्दा की उपेक्षाकर दे, पर सम्भावित व्यक्ति के लिये तो यह निन्दा उसके मरण से भी अधिक दुःखद है, अर्थात् ऐसी निन्दा से तो उसका मर जाना कहीं अधिक अच्छा है।

प्रसंग—पूर्वोक्त प्रसंग में ही भगवान् कहते हैं—

भयाद्रणा दुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं वहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

अन्वय—येषाम् च त्वम् बहुमतः भूत्वा लाघवम् यास्यसि (ते) महारथाः त्वाम् भयात् रणात् उपरतम् मंस्यन्ते।

शब्दार्थ—येषाम्=जिन महारथियों—भीष्म, द्रोण, विराट, सात्यकि, धृष्टद्युम्न आदि की दृष्टि में, बहुमतः भूत्वा=माननीय या सम्मानित होकर, लाघवम् यास्यसि=युद्ध से पराङ्मुखता रूप लघुता को प्राप्त होंगे, (ते) महारथाः=वे भीष्म द्रोणादि महारथी, त्वाम्=तुमको, भयात् रणात् उपरतम्=भयवश न कि स्वजनों पर दयावश, संग्राम से विमुख हुये, मंस्यन्ते=मानेंगे।

अनुवाद—जिन महारथियों की दृष्टि में तुम सम्मान्य होकर भी (युद्ध न करने के कारण) गिर जाओगे, वे भीष्म द्रोणादि महारथी तुमको भयवश युद्ध से विमुख हुआ समझेंगे।

भावार्थ—अब तक तुम्हारे पक्ष के या विपक्ष के सभी महारथी तुमको सम्मान्य वीर पुरुष मानते हैं, पर यदि तुम युद्ध न करोगे तो तुम उनकी दृष्टि में इस सम्मानित पद से गिर जाओगे, फलतः वे तुमको भयभीत होकर, न कि स्वजनों पर दयालु होकर, संग्राम भूमि से विमुख हुआ समझेंगे ।

प्रसंग—पूर्वोक्त प्रसंग में ही भगवान् कहते हैं—

अवाच्यवादांश्च वहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ।। ३६ ।।

अन्वय—तव अहिताः वहून् अवाच्यवादान् च तव सामर्थ्यम् निन्दन्तः वदिष्यन्ति ततः दुःखतरं नु किम् ।

शब्दार्थ—अहिताः=अहित करने वाले अर्थात् शत्रुजन, अवाच्यवादान् =न कहने योग्य बातों को ।

अनुवाद—तुम्हारे शत्रुजन, तुम्हारी सामर्थ्य की निन्दा करते हुए (तुम्हारे सम्बन्ध में) बहुत सी न कहने योग्य बातें कहेंगे, उससे अधिक दुःख और क्या होगा ।

भावार्थ—यद्यपि चौंतीसवें श्लोक में "अकीर्तिञ्चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्" द्वारा लोक निन्दा की बात पहले कही जा चुकी थी तथापि यहाँ उसी बात को इसलिये कहा गया है कि वह तो सर्व साधारण द्वारा निन्दा की बात थी, पर अब युद्ध न करने से तुम्हारे शत्रु भी तुम्हारे ही मुख पर तुम्हारी निन्दा करेंगे, यह तुम्हारे लिये असह्य दुःख का कारण होगी ।

प्रसंग—युद्ध करने से दोनों ही तरह से लाभ दिखलाते हुये भगवान् अर्जुन को युद्ध के लिये प्रोत्साहित करते हुये कहते हैं—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्यादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ।। ३७ ।।

अन्वय—हतः वा (त्वम्) स्वर्गम् प्राप्स्यसि, जित्वा वा महीम् भोक्ष्यसे, तस्मात् हे कौन्तेय ! युद्धाय कृत निश्चयः सन् उत्तिष्ठ ।

अनुवाद—या तो (युद्ध भूमि में) मारे जाकर अर्थात् मर कर (तुम। स्वर्ग प्राप्त करोगे अथवा जीतकर पृथ्वी का भोग करोगे, अर्थात् पृथिवी के राज्य का उपभोग करोगे, इस कारण हे अर्जुन युद्ध के लिये निश्चय करके खड़े हो जाओ।

भावार्थ—वस्तुतः प्रस्तुत श्लोक द्वारा भगवान् ने अर्जुन के युद्ध सम्बन्धी सन्देहों का ही उत्तर दिया है और यह दिखलाया है कि जय अथवा पराजय दोनों ही में लाभ है इसलिये युद्ध करना ही श्रेयस्कर है।

प्रसंग—"अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किन्तु महीकृते" तथा "किन्नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा" अर्जुन के इस कथन का समाधान करते हुये भगवान् कहते हैं कि यद्यपि तुम्हें राज्य सुख और स्वर्ग सुख की आकांक्षा नहीं है तथापि धर्मानुकूल युद्ध करना आवश्यक है—

सुख दु:खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पाप मवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

अन्वय—लाभालाभौ जयाजयौ सुख दुःखे समे कृत्वा ततः युद्धाय युज्यस्व एवं पापम् न अवाप्स्यसि।

शब्दार्थ—समेकृत्वा=समान समझकर।

अनुवाद—लाभ-हानि, जय-पराजय, सुख और दुःख को समान समझकर, उसके बाद युद्ध के लिये तैय्यार हो जाओ, इस प्रकार युद्ध करने से तुमको पाप न लगेगा।

भावार्थ—युद्ध से प्राप्त होने वाले जय पराजय, लाभ हानि तथा सुख दुःख में हर्ष और शोक का न होना ही इनको समान समझना है। ऐसा समझकर युद्ध करने से तुमको स्वजन वध का पाप न लगेगा अर्थात् जिस स्वजन वध को तुम पाप समझते हो वह तभी तक है जब तक कि तुम इस साम्य भाव में स्थित नहीं हो, इस समभाव में स्थित होने पर तुम कदापि पाप भागी न होंगे।

प्रसंग—यहाँ तक तो भगवान् ने अर्जुन को सांख्य योग के अनुसार तथा क्षत्रिय धर्म के अनुसार युद्ध को समुचित बतलाया, अब आगे वह कर्मयोग के सिद्धान्त के अनुसार भी युद्ध को उचित बतलाते हुये कहते हैं—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धि र्योगे त्विमां शृणु।
बुद्धया युक्तो यया पार्थ! कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

अन्वय—हे पार्थ ! एषा बुद्धिः ते सांख्ये अभिहिता, योगे तु इमाम् शृणु यया बुद्ध्या युक्तः (त्वम्) कर्मबन्धम् प्रहास्यसि ।

शब्दार्थ—एषा=समभावात्मिका यह बुद्धिः अर्थात् ज्ञान, ते=तुम्हारे लिये, सांख्ये=ज्ञान योग्य के सम्बन्ध में, अभिहिता=कही गई है। योगे=कर्मयोग के सम्बन्ध में, इमाम् शृणु=इस समभावात्मिका बुद्धि को इस प्रकार जानो, कर्मबन्धम्=सञ्चित प्रारब्ध एवं क्रियमाण कर्मों के बन्धन को, प्रहास्यसि=भली भाँति त्याग दोगे ।

अनुवाद—(अब तक तो) इस समभावात्मिका बुद्धि को तुम्हारे लिये ज्ञान योग के सम्बन्ध में बतलाया गया था, (अब तुम) इस समभावात्मिका बुद्धि को कर्मयोग के सम्बन्ध सुनो, (अर्थात् जितनी उपयोगिता इस बुद्धि की ज्ञानयोग में है उतनी ही कर्मयोग में भी है पर विधि नियम एवं प्रकार कुछ भिन्न हैं) जिस समभावात्मिकता बुद्धि से युक्त होकर तुम कर्म बन्धन को त्याग दोगे, अर्थात् इस समभावात्मिका बुद्धि का आश्रयण कर तुम कर्म करते हुये भी कर्मों के शुभाशुभ फल के भागी न हो सकोगे ।

भावार्थ—प्रस्तुत श्लोक द्वारा बतलाया गया है कि समभावात्मिका बुद्धि की उपयोगिता ज्ञान योग और कर्मयोग दोनों में देखी जाती है इसी बुद्धि से युक्त कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी कर्मबन्धन में नहीं पड़ता ।

प्रसंग—कर्मयोग का रहस्य पूर्ण महत्व बतलाते हुये भगवान् कहते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।४०॥

अन्वय—इह अभिक्रमनाशः न अस्ति, प्रत्यवायः न विद्यते, अस्य धर्मस्य स्वल्पम् अपि महतः भयात् त्रायते ।

शब्दार्थ—इह=इस कर्मयोग में, अभिक्रमनाशः=आरम्भ का विनाश अर्थात् आरम्भ किये गये कर्मयोग के बीज का नाश, (भूमि में डाला गया साधारण बीज तो रक्षा सिञ्चन धूप आदि के अभाव में नष्ट हो जाता है, पर आरम्भ करके बीच में छोड़कर दिया गया भी कर्मयोग कभी भी मूलतः नष्ट नहीं होता अपितु वह जन्मान्तर में भी साधक को पुनः कर्म में प्रवृत्त कराता

है । प्रत्यवायः=विपरीत फल दोष, अर्थात् सकाम भाव से किये गये सत्कर्म में भी त्रुटि हो जाने से उसी प्रकार अनिष्ट अथवा विपरीत फल हो सकता है जैसे रोगनाशकर औषधि यदि अननुकूल हो जाय तो रोग वर्धक होकर अनिष्ट कर हो जाती है, पर निष्काम अथवा समभाव से किया गया कर्म त्रुटि पूर्ण या अपूर्ण होने पर भी कभी विपरीत फलदायक नहीं होता । अर्थात् निष्काम कर्म का कभी भी वुरा परिणाम नहीं होता और न उसमें कभी कोई विघ्न ही पड़ता है । अस्य धर्मस्य=इस कर्मयोगरूप धर्म का, स्वल्पम्, अपि=थोड़ा सा भी साधन, महतो भयात्=जन्म मृत्यु रूप महाभय से, त्रायते=रक्षित करता है ।

अनुवाद—इस कर्मयोग में आरम्भ का बीजनाश नहीं है, और न इसमें विपरीत फल दोष ही विद्यमान है । इस कर्म योगरूप धर्म का थोड़ा सा भी साधन, जन्म-मृत्यु रूप महाभय से रक्षा करता है ।

भावार्थ—यतः कर्मयोग में न तो आरब्ध का नाश ही होता है और न इसमें कभी भी विपरीत फल अथवा दुष्परिणाम की ही सम्भावना होती है, अतः इसका अनुष्ठान आवश्यक है, क्योंकि अत्यल्प भी इस कर्मयोग का अनुष्ठान महाभय से भी रक्षित करता है ।

प्रसंग—कर्मयोग की आचरण पद्धति का निर्देश करते हुए भगवान् एक निश्चयात्मिका बुद्धि एवं अनेक अस्थिर बुद्धियों का भेद वतलाते हैं—

व्यवसायात्मिका बुद्धि रेकेह कुरुनन्दन ! ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ।।४१।।

अन्वय—हे कुरुनन्दन ! इह व्यवसायात्मिका बुद्धिः एका (एव) अव्यवसायिनाम् बुद्धयः वहुशारवा अनन्ताः च (भवन्ति) ।

शब्दार्थ—कुरुनन्दन=कुरुपुत्र अर्जुन, व्यवसायात्मिका बुद्धिः=अटल एवं स्थिर निश्चय स्वरूप वाली बुद्धि अर्थात् वह बुद्धि जो कि स्थायी समभाव रूप निश्चयात्मिका हो । एका (एव) इस प्रकार की बुद्धि-केवल एक ही होती है, क्योंकि इसमें केवल एक सच्चिदानन्द परमात्म तत्त्व का ही निश्चय रहता है, इसी को स्थिर बुद्धि या समबुद्धि भी कहा गया है । अव्यवसायिनाम्=उक्त प्रकार की बुद्धि से रहित-अज्ञान जन्य विषम भाव में स्थित सकाम, भोगासक्त विवेकहीन पुरुषों की, वहुशाखाः=भिन्न-भिन्न उद्देश्यों

एवं फलाकांक्षाओं से युक्त । अनन्ताः=सकाम पुरुषों की अनन्त कामनाओं के कारण अनन्त स्वरूप वाली ।

अनुवाद—हे अर्जुन ! अटल एवं स्थिर निश्चयात्मिका बुद्धि तो (केवल) इस कर्मयोग में एक ही होती है जिसमें कि केवल एक मात्र सच्चिदानन्द परमात्म तत्व का निश्चय रहता है पर सकाम विवेकहीन, विषम भाव स्थित जनों की बुद्धियाँ, उद्देश्यों और फलों के भेद से बहुशाखाओं वाली तथा कामना भेद से अनन्त होती हैं ।

भावार्थ—समभावापन्न ही बुद्धि स्थिर निश्चयात्मिका और एक होती है, पर विषम भावापन्न बुद्धियाँ अनेक तथा अनेक भेदों वाली होती हैं ।

प्रसंग—निष्काम भाव के ग्रहण और सकाम भाव के त्याग का निर्देश करते हुए भगवान् सकाम जनों के स्वभाव एवं उनके आचार विचारों को बतलाते हैं कि ऐसे लोग एक निश्चयात्मिका बुद्धि को ग्रहण नहीं करते ।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥
कामात्मनः स्वर्गपरा जन्म कर्म फलप्रदाम् ।
क्रिया विशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

अन्वय—हे पार्थ ! कामात्मनः, वेदवादरताः, स्वर्गपराः, नान्यत् अस्ति इति वादिनः, अविपश्चितः याम् जन्मकर्मफलप्रदाम् भोगैश्वर्यगतिं प्रति क्रिया विशेषबहुलाम् इमाम् पुष्पिताम् वाचम् प्रवदन्ति तया अपहृतचेतसाम् भोगैश्वर्य प्रसक्तानाम् समाधौ व्यवसायात्मिका बुद्धिः न विधीयते ।

शब्दार्थ—कामात्मनः=भोगों में अत्यन्त आसक्त या तन्मय, वेदवादरताः =उभय लोकों के भोग प्राप्ति के साधक काम्य कर्मों एवं तत्फलों का निर्देश करने वाले-वेद वाक्यों में आसक्ति रखने वाले, स्वर्गपराः=स्वर्ग को ही परम प्राप्य वस्तु मानने वाले, नान्यदस्तीति वादिनः="स्वर्ग से बढ़कर अन्य कोई प्राप्तव्य वस्तु है ही नहीं" इस बात को कहने वाले, अविपश्चितः=अविवेकी जन, याम्=जिस, जन्म कर्मफलप्रदाम्=जन्म रूप कर्म फल देने वाली,

भोगैश्वर्यगति प्रति क्रिया-विशेष वहुलाम्=भोग और ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये विविध प्रकार की अनेक क्रियाओं का निर्देश करने वाली, इमाम्=इस, पुष्पिताम्=पुष्पित विषलतावत् वाह्य शोभा युक्त, वाचम्=वाणी को, प्रवदन्ति=कहते हैं, तयापहृतचेतसाम्=उस वाणी से आकृष्ट चित्त वाले, भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम्=भोग और ऐश्वर्य में अत्यासक्त जनों की, समाधौ=परमात्मा में, (समाधीयतेऽस्मिन् बुद्धिः समाधिः) व्यवसायात्मिका बुद्धिः=स्थिर निश्चयात्मिका बुद्धि, अर्थात् समबुद्धि, न विधीयते=नही होती है।

अनुवाद—भोगों में तन्मय, कर्मफल प्रशंसा परक वेद वचनों में आसक्त, स्वर्ग को ही एक मात्र प्राप्तव्य समझने वाले, एवं स्वर्ग से बढ़कर अन्य किसी वस्तु को न मानने वाले अविवेकी जन जिस जन्मरूप कर्मफल को देने वाली, भोग और ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये विविध प्रकार की अनेक क्रियाओं का निर्देश करने वाली, इस (पुष्पित विषलतावत्) वाह्यशोभा युक्त वाणी को कहते हैं, उस वाणी से अपहृत चित्त वाले भोग एवं ऐश्वर्य में अत्यासक्त जनों की परमात्म तत्व में स्थिर निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं हो पाती है। अत एव सकाम पुरुषों में समबुद्धि का अभाव देखा जाता है।

भावार्थ—परमात्म तत्व में उन्ही का चित्त लगता है जिनकी बुद्धि समभाव में स्थिर हो चुकी है, और जो सकाम पुरुष भोगैश्वर्य प्रसक्त हैं तथा वेदों के उन वाक्यों को ही, जो कि काम्य कर्मों एवं उनके फलों का निर्देश करने वाले हैं, वेद का परमार्थ तत्त्व मानते हैं और स्वर्गाभिलाषा से यज्ञादि कर्म करते हैं, उनकी बुद्धि समभावापन्न नहीं हो पाती। वस्तुतः वेदों का परमार्थतत्व परमात्मतत्त्व का प्रतिपादन ही है, कर्मफल का निर्देश करना नहीं। पर वेदों का यह रहस्य समबुद्धि से ही ज्ञात हो सकता है।

प्रसंग—उक्त प्रसंगानुसार ही भगवान् अर्जुन को समभाव का उपदेश देते हुये कहते हैं—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥४५॥

अन्वय—हे अर्जुन ! वेदाः त्रैगुण्यविषयाः (सन्ति, त्वम्) निस्त्रैगुण्यः, निर्द्वन्द्वः, नित्यसत्त्वस्थः, निर्योगक्षेमः, आत्मवान् (च) भव।

शब्दार्थ—त्रैगुण्यविषयाः=सत्व रज और तम इन तीनों गुणों के विषयों अर्थात् गुणों के कार्य रूप समस्त भोगों एवं तत्प्राप्ति

साधनों का प्रतिपादन करने वाले, निस्त्रैगुण्य:=पूर्वोक्त गुणत्रय के कार्य रूप समस्त (ऐहिक एवं आमुष्मिक) भोगों एवं तत्प्राप्ति साधनों में आसक्ति और फलाकांक्षा से रहित हो जाना (स्वरूपत: कर्मों का या त्रैगुण्य विषयों का त्याग असम्भव हैं पर उनमें ममत्व एवं अहम्भाव एवं फलाकांक्षा का त्याग किया जा सकता है, निर्द्वन्द्व:=सुख दु:ख, लाभ हानि, हर्ष शोक, मान-अपमान, जय पराजय, अनुकूल प्रतिकूल पदार्थों का युग्म ही द्वन्द्व कहलाता है तथा इनके संयोग वियोग काल में हर्ष शोक एवं रागद्वेष से मुक्त रहना ही निर्द्वन्द्वता है। नित्यसत्वस्थ:=नित्य सत्त्व केवल एक सच्चिदानन्द परमतत्त्व है, इसका स्थिर भाव से निरन्तर चिन्तन करने वाला ही नित्यसत्वस्थ कहा जाता है, निर्योगक्षेम:=अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति को योग तथा प्राप्त वस्तु की रक्षा क्षेम कहलाता है इन दोनों से रहित होना ही निर्योगक्षेम है, आत्मवान्=मन बुद्धि तथा समस्त इन्द्रियों को वश में कर लेने वाला ही यहाँ आत्मवान् कहा गया है।

अनुवाद—तीनों गुणों के कार्य रूप भोग तथा तत्प्राप्ति साधनों का वर्णन करने वाले वेद हैं, अत: हे अर्जुन तुम इन त्रिगुणों के विषयों से रहित, हर्ष शोकादि द्वन्द्व रहित, परमतत्व में स्थित, योगक्षेत्र न चाहने वाले तथा मन बुद्धि एवं इन्द्रियों को वश में करने वाले बनो।

भावार्थ—कर्मयोगी को समबुद्धि प्राप्त करने के लिये इस आचार पद्धति को अपनाना चाहिये।

प्रसंग—निस्त्रैगुण्य होने के फलस्वरूप ब्रह्मज्ञान का महत्व बतलाते हुये भगवान् कहते हैं—

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ ४६॥

अन्वय—सर्वत: सम्प्लुतोदके (समुपलब्धे सति) उदपाने (साधारण जनानाम्) यावान् अर्थ: (सिद्ध्यति) विजानत: ब्राह्मणस्य सर्वेषु वेदेषु तावान् (एव) अर्थ: (सिद्ध्यति)।

शब्दार्थ—सर्वत:=चारों ओर से, सम्प्लुतोदके=परिपूर्ण जलाशय समुद्रादि के (प्राप्त होने पर) उदपाने=स्वल्प जलाशय वापी कूप तड़ागादि

में, यावान् अर्थः=जितना प्रयोजन (सिद्ध होता है) विजानतः=ब्रह्म तत्ववेत्ता विज्ञानी, ब्राह्मणस्य=ब्रह्मज्ञानी जन का, तावान् अर्थः=उतना ही प्रयोजन।

अनुवाद—चारों ओर से परिपूर्ण जलराशि के (प्राप्त हो जाने पर) स्वल्प जलाशय से (साधारण जनों का) जितना (स्नानपानादि) प्रयोजन सिद्ध होता है, ब्रह्म तत्त्व वेत्ता विज्ञानी ब्राह्मण का सब वेदों में उतना ही प्रयोजन सिद्ध होता है।

भावार्थ—तात्पर्य यह कि अथाह जल पूर्ण जलाशय प्राप्त कर लेने के बाद मनुष्य का छोटे वापी कूप आदि जलाशयों से जितना स्नान पानादि का प्रयोजन रह जाता है उतना ही प्रयोजन ब्रह्मज्ञानी का समस्त वेदों में रह जाता है। अर्थात् जबकि अथाह जल राशि से मनुष्य की सभी जल-सम्बन्धी आवश्यकतायें पूरी हो जाती हैं तब उसके लिये स्वल्प जलाशयों से कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है, इसी प्रकार जबकि सच्चिदानन्द परमातम तत्व को प्राप्त कर ज्ञानी जन की सभी अभिलाषायें पूर्ण हो जाती है तो फिर उसका वेदविहित कर्मों के फल स्वरूप भोगों से कुछ भी प्रयोजन नहीं रह जाता है। अर्थात् वह सर्वथा पूर्ण काम एवं नित्य तृप्त हो जाता है।

प्रसंग—उक्त प्रकार से कर्मयोग का फल बताकर भगवान् प्रस्तुतः श्लोक द्वारा कर्मयोग का स्वरूप बतलाते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

अन्वय—ते कर्मणि एव अधिकारः मा फलेषु कदाचन, मा कर्मफलहेतुः भूः अकर्मणि तु ते सङ्गः मा भूत्।

शब्दार्थ—कर्म फल हेतुः=कर्मों के फलों का हेतु, मा भूः=मत बनो। अकर्मणि=न कर्म करने में, सङ्गः=आसक्ति।

अनुवाद—वर्णाश्रम स्वभाव एवं परिस्थिति के अनुकूल शास्त्र विहित कर्तव्य कर्म करने में ही तुम्हारा अधिकार है, (उन कर्मों के विविध) फलों में कदापि नहीं। अतः तुम कर्मों के फलों के हेतु मत बनो तथा कर्म न करने में भी तुम्हारी आसक्ति न हो।

भावार्थ—मानव शरीर में ही जीव को नवीन कर्म करने का अधिकार दिया गया है, पर ये कर्म वही कर्म होने चाहिये जोकि शास्त्रविहित वर्णा-

श्रमानुकूल हों, निषिद्ध कर्मों के करने में वह स्वतन्त्र नहीं हैं, यदि वह राग-द्वेष वश पाप कर्मों में प्रवृत्त होता है तो यह उसकी अनधिकार चेष्टा होगी और फलतः उसे नरकादि दुःख भोगने पड़ेंगे। कर्म करने का ही अधिकार है पर कर्मों का स्वरूपतः त्याग करने का भी उसे अधिकार नहीं है, अतः कर्तव्य कर्म अवश्य करणीय हैं, न इनके स्वरूपतः त्याग में अथवा पाप कर्म करने में ही, मानव का अधिकार है।

कर्मफल प्राप्ति में भी मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है, किस कर्म का क्या कितना और कब कैसा फल मिलेगा, यह विधाता के अधीन है।

शास्त्रविहित कर्मों में तथा उनके फल में कामना, अथवा आसक्ति होना ही कर्मफल का हेतु बनना है। और इन में आसक्ति न रखना ही कर्म फल हेतुता का त्याग है। यदि मनुष्य कर्म में आसक्ति का त्याग कर देता है तो शुभाशुभ किसी भी कर्म का वह हेतु नहीं बनता, आसक्ति के अभाव में कर्मों में फल प्रदान की शक्ति ही नहीं रह जाती। आसक्ति ही पाप कर्म में प्रवृति का कारण होती है, इसके अभाव में मनुष्य की पाप कर्म में प्रवृत्ति भी नहीं होती।

जिस प्रकार निषिद्ध कर्मों का आचरण कर्माधिकार का दुरुप योग बतलाया गया है उसी प्रकार शास्त्रबोधित कर्तव्य कर्मों का न करना भी कर्माधिकार का दुरुप योग ही है अतः स्वरूपतः कर्म का त्याग न करना चाहिये।

प्रसंग—कर्म विधि का निर्देश करते हुये भगवान् कहते हैं—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

अन्वय—हे धनञ्जय ! सङ्गं त्यक्त्वा सिद्ध्यसिद्ध्योः समः भूत्वा योगस्थः सन् कर्माणि कुरु, समत्वम् योगः उच्यते।

शब्दार्थ—सङ्गं त्यक्त्वा = कर्मों एवं कर्म फलों में आसक्ति का त्याग करके, सिद्ध्य सिद्ध्योः समः भूत्वा = कार्य साफल्य एवं कार्य की असफलता में समभाव एक समान भाव होकर अर्थात सिद्धि और असिद्धि से प्राप्त राग और द्वेष से रहित होकर, योगस्थः = समभाव में स्थित होकर, समत्वम् = समता।

अनुवाद—कर्म फलासक्ति को त्याग कर तथा सिद्धि और असिद्धि में समान भाव रखकर, हे अर्जुन ! तुम समभाव में स्थित होकर कर्तव्य कर्मों को करो, समत्व ही योग कहा जाता है ।

भावार्थ—कर्म फलासक्ति को त्याग कर सिद्धि और असिद्धि से उत्पन्न होने वाले राग द्वेषादि में समान भाव से रहकर समभावापन्न होकर कर्म करना चाहिये, समता का नाम ही योग हैं । जो किसी भी साधन से समभाव को प्राप्त कर लेता हैं वही योगस्थ या योगी कहा जाता है ।

प्रसंग—समभाव रूप बुद्धि का महत्व बतलाते हुये भगवान् कहते हैं—

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद धनञ्जय ।
बुद्धौ शरण मन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ।।४९।।

अन्वय—हे धनञ्जय ! बुद्धियोगात् कर्म दूरेण अवरम्, बुद्धौ शरणम् अन्विच्छ, फलहेतवः कृपणाः (सन्ति)।

शब्दार्थ—बुद्धियोगात् = व्यवसायात्मिका बुद्धि द्वारा किया गया कर्मयोग बुद्धियोग कहा जाता है अथवा व्यवसायात्मिका बुद्धि का साधन भूत होने से कर्मयोग ही बुद्धियोग है इस प्रकार के बुद्धयोग अर्थात् समत्वापन्न बुद्धियोग या कर्मयोग से, कर्म = काम्य या सकाम कर्म, दूरेण = अत्यन्त ही, अवरम् = निकृष्ट है । बुद्धौ = समत्वापन्न बुद्धियोग में, शरण मन्विच्छ = आश्रय ग्रहण करो, फलहेतवः = कर्म फलों के हेतु जन अर्थात् सकाम कर्म करने वाले लोग (तो) कृपणाः = दीन हैं ।

अनुवाद—हे अर्जुन ! समत्वापन्न बुद्धियोग से सकाम कर्म तो अत्यन्त अपकृष्ट है, अतः तुम समत्व रूप बुद्धियोग में ही आश्रय प्राप्त करो, क्योंकि कर्मफल हेतुवाले लोग तो दीन है, अकिञ्चित्कर एवं दया पात्र हैं उनसे कुछ न मिलेगा ।

भावार्थ—समत्वरूप बुद्धियोग अथवा कर्मयोग की अपेक्षा यहाँ सकाम कर्मों को तुच्छ बतलाया गया है । अर्थात् सकाम बुद्धि से सत्कर्म भी न करने चाहिये, निषिद्ध कर्म तो सर्वथा हेय हैं ही, अतः यहाँ अना-सक्त कर्म को ही श्रेष्ठ बतलाकर उन्हीं का आश्रय लेने को कहा गया है और उन लोगों को

दीन बतलाया गया है जो कि कर्म फलों के हेतु बनते हैं अर्थात् फला सक्ति से कर्म करते हैं ।

प्रसंग—कर्मयोगियों का महत्व दिखलाते हुये भगवान् अर्जुन को कर्मयोग का उपदेश देते हैं—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

अन्वय—बुद्धियुक्तः सुकृतदुष्कृते उभे (अपि) इह जहाति' तस्मात् योगाय युज्यस्व, योगः कर्मसु कौशलम् ।

शब्दार्थ—बुद्धियुक्तः = समत्वरूप बुद्धि योग से युक्त पुरुष अर्थात् निष्काम कर्मयोगी, सुकृत दुष्कृते = पुण्य और पाप, उभे (अपि) दोनों को (ही) इह = इस लोक में, जहाति = छोड़ देता है। योगाय युज्यस्व = समत्व रूप कर्मयोग में लग जाओ । योगः = निष्काम कर्मयोग ।

अनुवाद—समत्वरूप बुद्धियोग से युक्त कर्मयोगी पुरुष पुण्य और पाप दोनों ही को इसीलोक में त्याग देता है अर्थात् ऐसा कर्मयोगी पाप पुण्य दोनों हीं से इसी लोक में छूट जाता है । इसलिये तुम समत्वरूप योग में लग जाओ, क्योंकि समत्वरूप योग ही कर्मों में कुशलता है, अर्थात् कर्मबन्धन से मुक्त होने का एकमात्र उपाय है ।

भावार्थ—समत्वापन्न कर्मयोगी सभी प्रकार के सञ्चित एवं प्रारब्ध तथा क्रियमाण पुण्यात्मक एवं पापात्मक कर्मों को इस अपने वर्तमान जन्म में ही त्याग देता है अर्थात् वह इस जन्म में ही सभी कर्मबन्धनों से मुक्त हो जाता है, अतः कर्मयोग का आश्रय श्रेयस्कर है । वस्तुतः सच्चा कर्मयोगी जीवन्मुक्त हीं हो जाता है ।

कर्म करना मनुष्य के लिये इच्छा या अनिच्छा से अनिवार्य ही है और कर्म ही मनुष्य को बन्धन में डालने वाले भी होते हैं, अतः कर्म करते हुये भी कर्मबन्धन में न पड़ने का एकमात्र उपाय समत्वयोग है । इसीलिये कर्मों में 'योग' ही कुशलता है अर्थात् कर्म करते हुये भी समत्वयोग में स्थित रहना ही कुशलता है । जो कर्म बन्धनग्रस्त करने वाले हैं उन्हें निष्कामभाव से ईश्वरा-

राधन का रूप देकर मोक्षप्रद बना लेने में जो मनुष्य का अपूर्व चातुर्य है उसी का नाम योग है और ऐसा करने वाला ही सच्चा कर्मयोगी है ।

प्रसंग—किस प्रकार कर्म मोक्ष साधक बन सकते हैं ? इसी बात का निर्देश करते हुये भगवान् कहते हैं—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्म बन्ध विनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ।। ५१ ।।

अन्वय—बुद्धियुक्ता हि मनीषिणः कर्मजम् फलम् त्यक्त्वा जन्मबन्ध-विनिर्मुक्ताः सन्तः अनामयं पदम् गच्छन्ति ।

शब्दार्थ—बुद्धियुक्ताः = समत्वरूप बुद्धि से युक्त, मनीषिणः = कर्मयोगी जन, कर्मजम् = कर्मों से उत्पन्न होने वाले, जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः = जन्म रूप बन्धन से छूटे हुए होकर, अनामयं पदम् = निर्विकार एवं निरूपद्रव मोक्ष नामक विष्णुपद को, गच्छन्ति = प्राप्त होते हैं ।

अनुवाद—क्योंकि समत्वरूप बुद्धि से युक्त कर्मयोगी जन कर्मों से उत्पन्न होने वाले फल को त्यागकर जन्म रूप बन्धन से विमुक्त होकर निर्विकार मोक्ष पद को प्राप्त होते हैं ।

भावार्थ—समत्वबुद्धि युक्त कर्मयोगी ही फलासक्ति त्याग कर जन्म-मरण के बन्धन से छूटकर मोक्ष पाते हैं, पर जो सकाम कर्म करने वाले हैं वे कर्मानुसार गति को प्राप्त होते हैं ।

प्रसंग—अनामय पद की प्राप्ति कब और कैसे होती है ? इसी का निर्देश करते हुये भगवान् कहते हैं—

यदा ते मोह कलिलं बुद्धि र्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ।। ५२ ।।

अन्वय—यदा ते बुद्धिः मोहकलिलम् व्यतितरिष्यति, तदा त्वम् श्रुतस्य श्रोतव्यस्य च निर्वेदम् गन्ता असि ।

शब्दार्थ—मोहकलिलम् = देहादि में आत्मबुद्धि रूप मोहमय दल-दल को व्यतितरिष्यति = विशेषरूप से भली भाँति पार कर जायेगी, श्रुतस्य = अब तक सुने गये, श्रोतव्यस्य = आगे सुनने में आने वाले अर्थात् ऐहिक एवं

आमुष्मिक भोगों से, निर्वेदम्=वैराग्य को, गन्तासि=प्राप्त हो जाओगे ।

अनुवाद—जब तुम्हारी बुद्धि (स्वबान्धवों के प्रति) अज्ञान जन्य मोह रूप दलदल को भली भाँति पार कर लेगी अर्थात् जब तुम इस मोह जाल से मुक्त हो जोओगे तब समस्त सुने गये और आगे सुनने में आने वाले ऐहिक एवं आमुष्मिक भोगों से वैराग्य प्राप्त कर लोगे ।

भावार्थ—बन्धुजन स्नेह मोह का कारण है और यह एक ऐसा दलदल है जिसमें मनुष्य की बुद्धि फंसी रहती है फलतः वह मनुष्य को समता एवं विरक्ति की ओर नहीं जाने देती । इसी मोह कलिल को पार करने के बाद ही मनुष्य सभी प्रकार के भोगों से विरक्त होकर परमपद को प्राप्त करता है ।

प्रसंग—योग प्राप्ति का उपाय बतलाते हुये भगवान् कहते हैं—

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिः तदा योग मवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

अन्वय—श्रुतिविप्रतिपन्ना ते बुद्धिः यदा समाधौ निश्चला अचला स्थास्यति तदा योगम् अवाप्स्यसि ।

शब्दार्थ—श्रुतिविप्रतिपन्ना=वेद बोधित कर्म फल स्वरूप नाना भोग्य पदार्थों के श्रवण से विक्षिप्त अथवा विचलित हुई, ते बुद्धिः=तुम्हारी बुद्धि, समाधौ=परमात्म तत्व में, निश्चला=विक्षेप कारक विषयान्तरों से अनाकृष्ट होकर, अचला=अभ्यास की प्रवीणता से वहीं स्थिर, स्थास्यति=जम जायेगी, योगम्=परमात्मा से नित्य एवं पूर्ण संयोग को अथवा योग अर्थात् कर्मयोग के फलरूप तत्वज्ञान को, अवाप्स्यसि=प्राप्त कर लोगे ।

अनुवाद—वेदोक्त कर्म फलरूप विविध भोगों के श्रवण से विक्षिप्त एवं अनिश्चयात्मिका तुम्हारी बुद्धि जब परमात्मा में, विषयान्तरों से अनाकृष्ट एवं अभ्यास से स्थिर हो जायेगी अब तुम परमात्म योग प्राप्त कर लोगे ।

भावार्थ—समाधि में बुद्धि की निश्चलता एवं स्थिरता ही योग प्राप्ति का साधन है, ऐहिक अथवा पारलौकिक भोगों से विचलित बुद्धि को समाधिस्थ करके ही साधक योग को प्राप्त कर सकता है ।

प्रसंग—स्थित प्रज्ञ सिद्धयोगी के लक्षण एवं आचरणों के विषय में जानने के लिए इच्छुक अर्जुन पूँछते हैं—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥ ५४ ॥

अन्वय—हे केशव ! समाधिस्थस्य स्थितप्रज्ञस्य का भाषा, स्थितधीः किम् प्रभाषेत, किम् आसीत्, किम् व्रजेत् ।

शब्दार्थ—केशव = जगत् के सृजन पालन एवं संहार करने वाले सर्व शक्तिमान् परमेश्वर । समाधिस्थस्य = जिसकी बुद्धि परमात्मा में सदा के लिए अचल और स्थिर हो गई है, स्थितप्रज्ञस्य = निश्चल बुद्धि सम्पन्न योगी की, का भाषा = क्या लक्षण, (भाष्यतेऽनया इति भाषा = लक्षण) स्थितधीः = स्थिर बुद्धिवाला अर्थात् स्थितप्रज्ञ, किं प्रभाषेत = कैसे बोलता है अर्थात् उसके वचन किन भावों से प्रेरित होते हैं, किमासीत = कैसे बैठता है, अर्थात् व्यवहार रहित काल में उसकी कैसी अवस्था होती है, व्रजेत किम् = कैसे चलता हैं अर्थात् उसका आचरण कैसा होता है ।

अनुवाद—हे केशव ! परमात्मा में स्थित, परमात्म तत्त्व को प्राप्त हुये स्थिर बुद्धि पुरुष का क्या लक्षण है, वह स्थिर बुद्धि पुरुष कैसे वचन बोलता है, किस अवस्था में रहता हैं और कैसा आचरण करता है ।

भावार्थ—परमात्मा में स्थित सिद्धयोगी का लक्षण तथा उसका आचरण कैसा होता है ? अर्जुन की इस जिज्ञासा का यहाँ उल्लेख किया गया है ।

प्रसंग—स्थित प्रज्ञ का लक्षण बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥

अन्वय—हे पार्थ ! यदा सर्वान् मनोगतान् कामान् प्रजहाति, आत्मना आत्मनि एव तुष्टः (च भवति) तदा स्थितप्रज्ञः उच्यते ।

शब्दार्थ—हे पार्थ = अर्जुन, सर्वान् मनोगतान् कामान् = मनोगत समस्त वासना, स्पृहा, इच्छा, तृष्णारूप कामनाओं को । प्रजहाति = भली भाँति पूर्ण

रूप से त्याग देता है, आत्मना आत्मनि एव तुष्टः=आत्मा से आत्मा में ही सन्तुष्ट रहना--यह अवस्था उसी समय होती है जब साधक समस्त मनोगत कामनाओं को छोड़कर एकमात्र परमात्म स्वरूप में पूर्ण काम एवं नित्यतृप्त हो जाता है। स्थितप्रज्ञः=परमात्मा में अचल एवं स्थिर बुद्धि वाला, उच्यते=कहा जाता है।

अनुवाद--हे अर्जुन ! जिस समय (साधक पुरुष) मनोगत समस्त कामनाओं को भली-भाँति त्याग देता है और आत्मा से आत्मा में सन्तुष्ट हो जाता है, उसी समय वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।

भावार्थ—समस्त मनोगत कामनाओं का त्याग करने वाला एवं आत्म सन्तुष्ट साधक ही स्थितप्रज्ञ कहा जाता है, स्थितप्रज्ञ का यही लक्षण है।

प्रसंग—अर्जुन के "स्थितधीः किं प्रभाषेत" प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभय क्रोधः स्थितधी र्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

अनुवाद—दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः मुनिः स्थितधीः उच्यते।

शब्दार्थ—दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः=दुःखों के प्राप्त होने पर भी जिसका मन विक्षुब्ध नहीं होता। सुखेषु विगतस्पृहः=सुखों की प्राप्ति होने पर भी जो सर्वथा निःस्पृह—कामना रहित बना रहता है। वीतरागभयक्रोधः= जो आसक्ति भय तथा क्रोध से सर्वथा रहित हो गया है। मुनिः=वाक्यसंयमी। उच्यते=कहा जाता है।

अनुवाद—दुःखों की प्राप्ति होने पर भी जिसका मन विक्षुब्ध नहीं होता, सुखों की प्राप्ति पर जो सर्वथा निःस्पृह, रहता है तथा जो आसक्ति भय एवं क्रोध से रहित है, ऐसा वाक्संयमी पुरुष ही स्थितधी कहा जाता है।

भावार्थ—कोई भी धैर्यवान् पुरुष, अन्तःकरण में इन उक्त विकारों— विक्षुब्धता, स्पृहा, भय, क्रोध, राग आदि के रहते हुये भी शान्त और सरल

वाणी बोल सकता है अतएव भगवान् ने यहाँ "किं प्रभाषेत" के उत्तर में वाणी की ऊपरी विशेषतायें न बताकर मन के भावों का वर्णन किया है, इन्हीं मनोगत भावों से प्रेरित होकर मनुष्य तदनुकूल बोलता है। यहा तात्पर्य यह है कि "स्थितधी" वही पुरुष कहा जायेगा जिसकी वाणी भी उसके अन्तःकरण के अनुरूप ही निर्विकार एवं शुद्ध हो। ऊपर से शान्त शुद्ध एवं सरल वाणी बोलने वाला वाक्संयमी मुनि तो हो सकता है पर स्थितधी वही कहा जायेगा जिसकी वाणी उसके अन्तःकरण के अनुरूप ही निर्विकार हो।

प्रसंग—उक्त प्रसंग में ही भगवान् कहते हैं—

यः सर्वत्रानभिस्नेह स्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

अन्वय—यः सर्वत्र अनभिस्नेहः, तत् तत् शुभाशुभम् प्राप्य न अभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।

शब्दार्थ—अनभिस्नेहः=सर्वथा ममता से रहित अर्थात् जो पुत्र दार-गृहादि में सर्वथा ममत्व एवं आसक्ति से रहित हो गया है, फलतः जिसकी वाणी सर्वविध विकारों की मूल आसक्ति से रहित हो गई है। तत्तत् शुभा-शुभं प्राप्य=अनन्त अनुकूल प्रतिकूल वस्तुओं को प्राप्त करके (संसार में अनन्त अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थ होते हैं, पर स्थितधी पुरुष में इन्हें प्राप्त कर अनुकूल प्रतिकूल भाव उदित नहीं होते) न अभिनन्दति=प्रिय अथवा अनुकूल वस्तु प्राप्त कर साधारण जन हर्ष मग्न हो वाणी द्वारा उसकी प्रशंसा करने लगता है पर स्थितधी पुरुष के अन्तःकरण में किञ्चिन्मात्र भी हर्ष विकार नहीं होता फलतः उसकी वाणी भी सर्वथा हर्ष विकार से शून्य रहती है अतएव वह उसकी प्रशंसा नहीं करता। न द्वेष्टि=प्रतिकूल वस्तु प्राप्त कर उसके मन में द्वेष विकार नहीं होता फलतः उसकी वाणी भी द्वेष भाव से शून्य रहती है अतएव वह उससे द्वेष नहीं करता। तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता=उसकी बुद्धि स्थिर है।

अनुवाद—जो सर्वत्र ममता और आसक्ति से रहित हुआ उस प्रिय और अप्रिय वस्तु को प्राप्त कर न तो (उसकी प्रशंसा करता है और न

(उससे) द्वेष ही करता है अर्थात् न निन्दा करता है उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित अर्थात् स्थिर कही गई है।

भावार्थ—प्रियाप्रिय पदार्थों को प्राप्त कर भी जो न उनकी प्रशंसा करता और न निन्दा करता है तथा जो सर्वत्र आसक्ति रहित रहता है उसे ही स्थिर बुद्धि कहा जाता है।

विशेष—यद्यपि ये दोनों श्लोक 'किं प्रभाषेत' के उत्तर में कहे गये हैं तथापि इनमें वचन प्रयोग-बोलना या वाणी का साक्षात् कथन न करके मनोगत भावों का ही निर्देश किया गया है, कारण यह कि शुद्ध शान्त प्रिय वाणी तो कोई भी धैर्यवान् पुरुष दम्भी या कपटी पुरुष भी अन्तः विकारों के रहते हुए भी बोल सकता है पर स्थितधी मुनि तो वही कहा जायेगा जिसके अन्तःकरण में राग द्वेषादि विकार न हों, अतएव यहाँ भावों का ही प्राधान्य दिखलाया गया है।

प्रसंग—अर्जुन के "किमासीत" प्रश्न का उत्तर देते हुये भगवान् इन्द्रियों की विषयोपरति वतलाते हुये कहते हैं—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गनीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

अन्वय—यदा च, कूर्मः सर्वशः अङ्गानि इव, अयम् इन्द्रियार्थेभ्यः इन्द्रियाणि संहरते (तदा) तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता (कथ्यते)।

शब्दार्थ—कूर्मः=कछुआ, सर्वशः=सब ओर से, इन्द्रियार्थेभ्यः=इन्द्रियों के अपने अपने विषयों से, संहरते=समेट लेता हैं।

अनुवाद—और जब, जैसे कछुआ सब ओर से अपने अंगों को समेट लेता है, उसी प्रकार जब यह पुरुष इन्द्रियों के अपने अपने विषयों से अपनी इन्द्रियों को समेट लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर (कही जाती है)

भावार्थ—इन्द्रियों को अपने अपने स्थूल विषयों से हटा लेना सहज है, इसे तो हठयोगी भी, कपटी दम्भी पुरुष भी कर लेता है और वे स्वप्न अथवा अपने मनो राज्य में इन्द्रियों द्वारा सूक्ष्म विषयों का उपभोग किया करते हैं पर यहाँ सर्वशः पद द्वारा यह दिखलाया गया है कि सूक्ष्म विषयों से भी

इन्द्रियों को हटा लेने पर स्थित प्रज्ञता प्राप्त होती है अन्यथा नहीं। इन्द्रियों के सर्वथा वशवर्शी होने पर ही स्थिर बुद्धि होती है। जब तक इन्द्रियाँ वश में नहीं होतीं तब तक मन और बुद्धि स्थिर नहीं हो पाते क्योंकि इन्द्रियाँ इन्हें वलात् विषयोपभोग में लगा देती हैं। इस प्रकार की विषयोपरति ही स्थितप्रज्ञ की वह विशिष्ट अवस्था है जिसे "किमासीत" द्वारा पूँछा गया है।

प्रसंग—सामान्यतः विषयों में अप्रवृति तो रोगी एवं उपवास परायण जनों में भी देखी जाती है, अतः विषयाप्रवृति स्थितप्रज्ञ का लक्षण कैसे हो सकता है? इसी का समाधान करते हुये भगवान् साधारणजनों के इन्द्रिय संयम की अपेक्षा स्थितप्रज्ञ के संयम की विलक्षणता बतलाते हैं—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्ज रसोऽप्यस्य परं दृष्टवा निवर्तते ।।५९।।

अन्वय—निराहारस्य देहिनः विषयाः विनिवर्तन्ते (परं ते) रसवर्जं यथा स्यात् तथा (विनिवर्तन्ते) (किन्तु) अस्य रसः अपि परं दृष्ट्वा निवर्तते,

शब्दार्थ—निराहारस्य देहिनः=इन्द्रियों के द्वारा विषयों का ग्रहण करना 'आहार' कहा जाता है, इन्द्रियों के द्वारा विषयों को ग्रहण न करने वाला 'निराहार' कहा जाता है, अतः निराहारस्य देहिनः का अर्थ है-समस्त इन्द्रियों द्वारा इन्द्रियविषयों को ग्रहण न करने वाले देहाभिमानी अतएव अज्ञानी पुरुष के, विषयाः=शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध रूप समस्त विषय, विनिवर्तन्ते =छूट जाते हैं, 'रसवर्जम्' रस का अर्थ है, अभिलाषा स्वाद या राग आसक्ति अतः रसवर्जम् का अर्थ है आसक्ति के बिना, अर्थात् आसक्ति तो बनी ही रहती है केवल विषय हट जाते हैं। अस्य=स्थितप्रज्ञ पुरुष का, रसः=आसक्ति, परम=सच्चिदानन्द रूप परमात्म तत्व को, निवर्तते= हट जाती है।

अनुवाद—समस्त इन्द्रियों द्वारा अपने अपने विषयों को ग्रहण न करने वाले देहाभिमानी अतएव अज्ञानी पुरुष के विषय तो छूट जाते हैं, परन्तु राग या आसक्ति के बिना, अर्थात् विषयों की निवृत्ति होने पर भी उसमें विषयों के प्रति राग या आसक्ति बनी रहती है, परन्तु परमात्म तत्त्व को देखकर उसका यह राग भी छूट जाता है।

भावार्थ—जिस प्रकार उपवास करने वाले का यद्यपि भोजन छूट जाता है पर भोजन के प्रति उसकी आसक्ति बनी रहती है उसी प्रकार सभी इन्द्रियों के विषयों के निवृत्त हो जाने पर भी अज्ञानी पुरुष की उन विषयों में आसक्ति बनी ही रहती है, किन्तु जब वह परमात्म तत्व को देख या समझ लेता है तब उस स्थितिप्रज्ञ पुरुष की यह आसक्ति भी मिट जाती है।

प्रसंग—अनासक्ति और इन्द्रिय संयम के बिना स्थितप्रज्ञता नहीं आती, अतः इन्द्रिय संयम आवश्यक है।

यही बतलाते हुए भगवान कहते है—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

अन्वय—हे कौन्तेय ! प्रमाथीनि इन्द्रियाणि हि यततः अपि विपश्चितः पुरुषस्य मनः प्रसभं हरन्ति।

शब्दार्थ—प्रमाथीनि=अत्यन्त क्षोभ उत्पन्न करने वाली–प्रमथनशील, यततः अपि=यत्न करते हुये भी, विपश्चितः पुरुषस्य=विद्वान् पुरुष का, प्रसभम्=बलात्, हरन्ति=आकृष्ट कर लेती हैं।

अनुवाद—प्रमथनशील इन्द्रियाँ (आसक्ति या राग का नाश न होने के कारण) (मोक्षसाधन के लिये) यत्न करते हुए भी विद्वान् पुरुष के मन को बलात् आकृष्ट कर लेती हैं अर्थात् उसके मन को विषयों की ओर खींच ले जाती है।

भावार्थ—इन्द्रियाँ स्वभावतः विक्षोभ उत्पन्न करने वाली होती हैं, आसक्ति के नाश न होने के कारण ये प्रयत्नशील विद्वान् पुरुष का भी मन विषयों की और आकृष्ट कर लेतीं हैं अतः साधक के लिये इन्द्रिय संयम अत्यावश्यक है।

प्रसंग—बिना इन्द्रिय संयम के समाहित चित्तता एवं भगवत्, परायणता नहीं होती अतः स्थितप्रज्ञता प्राप्त्यर्थ इन्द्रियसंयम की आवश्यकता बतलाते हुये भगवान् कहते हैं—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

अन्वय—तानि सर्वाणि संयम्य युक्तः यत्परः आसीत, हि यस्य इन्द्रियाणि वशे (वर्तन्ते) तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता (भवति)।

शब्दार्थ—संयम्य=वश में करके, युक्तः=समाहित चित्त, मत्परः=मेरे पर परायण अर्थात् परमात्मचिन्तन और ध्यान में लीन होकर, आसीत=बैठें।

अनुवाद—इसलिये सभी इन्द्रियों को वश में करके, समाहित चित्त हुआ परमात्म चिन्तन में लीन होकर बैठैं अर्थात् ध्यान योग करे, क्योंकि जिसकी इन्द्रियाँ वश में होती है उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित होती है अर्थात् वही स्थित प्रज्ञ कहा जाता है।

भावार्थ—बुद्धि की स्थिरता इन्द्रिय संयम विना प्राप्त नहीं होती है अतः इन्द्रियों को वश में करके मत्परायण होकर ध्यान में बैठना चाहिये। वस्तुतः यह "किमासीत" का उत्तर है।

प्रसंग—जिस प्रकार वाह्य इन्द्रियों के संयम न होने से स्थितप्रज्ञता नहीं होती उसी प्रकार मन के संयम के अभाव में भी स्थितप्रज्ञता नहीं हो पाती, इसी वात को वतलाते हुये भगवान् कहते है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गः स्तेषूप जायते।
सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभि जायते॥६२॥

अन्वय—विषयान् ध्यायतः पुंसः तेषु सङ्गः उपजायते। सङ्गात् कामः संजायते, कामात् क्रोधः अभिजायते।

शब्दार्थ—ध्यायतः=चिन्तन करने वाले, सङ्गः=आसक्ति।

अनुवाद—विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष का उन विषयों में राग (आसक्ति) उत्पन्न हो जाता है। फिर संग से काम उत्पन्न होता है अर्थात् उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है और फिर काम से (कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है।

भावार्थ—वाह्य इन्द्रियों का संयम कर लेने पर भी मन से विषयों का चिन्तन करते रहने से उनमें आसक्ति उत्पन्न हो जाती है, आसक्ति से कामना और कामना के विघात होने से क्रोध उत्पन्न होता है, अतः मन का वश में करना भी अत्यावश्यक है।

प्रसंग—उक्त प्रसंग में ही भगवान् कहते हैं—

क्रोधाद् भवति संमोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥६३॥

अन्वय—क्रोधात् संमोहः भवति, सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः (भवति) स्मृति-भ्रंशात् बुद्धिनाशः, बुद्धिनाशात् (पुरुषः) प्रणश्यति ।

शब्दार्थ—संमोहः=कर्तव्याकर्तव्यविवेक का अभाव-मूढभाव, स्मृतिविभ्रमः =स्मृति-शास्त्र या आचार्य द्वारा प्रदत्त ज्ञान की स्मृति-का भ्रम—विशेष रूप से भ्रम-सन्देह, या उपदिष्ट भाव का विचलन हो जाता है । स्मृति-भ्रंशात्= स्मृति के नाश से, प्रणश्यति= अपनी स्थिति से पतन हो जाता है ।

अनुवाद—क्रोध से संमोह,अर्थात् कर्तव्या कर्तव्य विवेक हीनता होती है, और सम्मोह से स्मृति में विभ्रम उत्पन्न होता है, स्मृति के नष्ट होने से बुद्धि अर्थात् ज्ञान शक्ति का नाश होता है और बुद्धिनाश से (मनुष्य) अपनी स्थिति से पतित हो जाता है ।

भावार्थ—क्रोध से विवेकशक्ति नष्ट हो जाती है ओर इससे फिर उसकी स्मरणशक्ति क्षीण हो जाती है इसलिये वह पहले सोची समझी और निश्चित की गई बातों को भूल जाता है, फलतः वह किसी भी कार्य में उचित अनुचित का ध्यान नहीं रख पाता, फलतः वह अकार्य में भी प्रवृत्त हो जाता है। कर्तव्य का निश्चय न कर सकना ही बुद्धिनाश है जो कि अन्ततोगत्वा मनुष्य को अपनी स्वाभाविक स्थिति से गिरा देता है, उसमें कटुता कठोरता जड़ता कायरता हिंसा आदि दुर्गुणों को उत्पन्न कर उसे नष्ट ही कर डालता है। मन का संयम करने वाले पुरुष में ये दोष नहीं आने पाते ।

प्रसंग—यहाँ से 'व्रजेत् किम्' का उत्तर देने के लिये भगवान् साधक द्वारा विषयों में विचरण किये जाने का प्रकार और फल बतलाते हैं—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।।६४।।

अन्वय—विधेयात्मा तु रागद्वेषवियुक्तैः आत्मवश्यैः इन्द्रियैः विषयान् चरन् प्रसादम् अधिगच्छति ।

शब्दार्थ—विधेयात्मा=वशीकृत अन्तः करण वाला साधक, तु=तो, रागद्वेषवियुक्तैः=राग और द्वेष से रहित, आत्मवश्यैः=अपने अधीन किये हुये स्ववशवर्ती, इन्द्रियैः=इन्द्रियों के द्वारा, विषयान् चरन्=इन्द्रियों के अपने अपने विषयों-भोगों में विचरण करता हुआ अर्थात् इन्द्रियों द्वारा विषयों का भोग करता हुआ भी, प्रसादम् अधिगच्छति=अन्तःकरण की प्रसन्नता को अर्थात् सुख और शान्ति को प्राप्त होता है।

अनुवाद—वशीकृतान्तः करण वाला साधक तो राग द्वेष से रहित तथा स्ववशवर्ती इन्द्रियों द्वारा भोगों को भोगता हुआ भी सुख और शान्ति को प्राप्त होता है।

भावार्थ—साधारण जनों की इन्द्रियाँ राग द्वेष पूर्ण और स्वतन्त्र होती है, इनके द्वारा विषयों का भोग करने वाला मनुष्य कभी सुख शान्ति नहीं पाता, पर जितेन्द्रिय साधक की इन्द्रियाँ उसके द्वारा वशीकृत हो जाने से रागद्वेष से रहित हो जाती हैं, फलतः इन वशीकृत इन्द्रियों से साधक अपने वर्ण एवं आश्रमानुसार खाना पीना उठना बैठना देखना सुनना आदि सभी व्यवहारों को करता हुआ भी आत्यन्तिक सुख एवं शान्ति को प्राप्त कर लेता है। वस्तुतः इस कथन से भगवान् ने साधक कैसे चलता है और व्यवहार करता है। इस प्रश्न का ही उत्तर दिया है कि विधेयात्मा स्वाधीन इन्द्रियों द्वारा विषयों का उपभोग करता हुआ विचरता है।

प्रसंग—उक्त प्रसाद का फल बतलाते हुये भगवान् कहते हैं—

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

अन्वय—प्रसादे अस्य सर्वदुःखानाम् हानिः उपजायते, हि प्रसन्नचेतसः बुद्धिः आशु पर्यवतिष्ठते।

शब्दार्थ—प्रसादे=अन्तः करण के सुखशान्ति प्राप्त कर लेने पर अर्थात् अन्तः करण की प्रसन्नता हो जाने पर। हानिः=अभाव, उपाजायते=हो जाता है, आशु, पर्यवतिष्ठते=परमात्मा में स्थिर हो जाती है।

अनुवाद—अन्तः करण के स्वच्छ एवं प्रसन्न होने पर इस साधक के सभी दुःखों का अभाव हो जाता है, क्योंकि प्रसादयुक्त चित्तवाले पुरुष की बुद्धि

शीघ्र ही परमात्मा में स्थिर हो जाती है अर्थात् उसे स्थितप्रज्ञता प्राप्त हो जाती है ।

भावार्थ—अनासक्त भाव से कर्मयोग साधना से पाप क्षय होने पर अन्तः करणः प्रसन्न हो जाता है और पापों के कारण होने वाले सभी दुःखों का नाश हो जाता है, इस प्रकार प्रसन्नान्तः करण वाले व्यक्ति की बुद्धि परमात्मा में सर्वथा स्थिर हो जाती है ।

प्रसंग—उक्त प्रकार के प्रसाद के अभाव में सुख शान्ति नहीं मिलती, इसी बात को बतलाते हुये भगवान् कहते हैं—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्ति रशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

अन्वय—अयुक्तस्य बुद्धिः नास्ति, अयुक्तस्य न च भावना (भवति) अभावयतः न शान्तिः (भवति) अशान्तस्य सुखम् कुतः (स्यात्) ।

शब्दार्थ—अयुक्तस्य = अजितेन्द्रिय पुरुष की, बुद्धिः = निश्चयात्मिका बुद्धिः, भावना = परमात्म स्वरूप का चिन्तन, अभावयतः = परमात्मचिन्तन न करने वाले मनुष्य का, शान्ति = आत्मा में चित्त की स्थिरता, सुखम् = मोक्ष-रूप परमानन्द ।

अनुवाद—अजितेन्द्रिय पुरुष की निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती और अयुक्त पुरुष को परमात्मस्वरूप चिन्तन भी नहीं होता, परमात्मचिन्तन रहित पुरुष की आत्मा में चित्तस्थिरता नहीं होती, और शान्तिरहित पुरुष को मोक्षरूप परमानन्द कहाँ से मिल सकता है ।

भावार्थ—अजितेन्द्रिय पुरुष की बुद्धि अनस्थिर एवं परमात्म चिन्तन से रहित होती है; अतएव उसे सुख और शान्ति नहीं मिलते ।

प्रसंग—अयुक्त पुरुष में स्थिर बुद्धि, भावना तथा सुख और शान्ति नहीं होते, इसी का हेतु बतलाते हुये भगवान् कहते हैं—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायु र्नाव मिवाम्भसि ॥ ६७ ॥

अन्वय—चरताम् इन्द्रियाणाम् हि मनः यत् अनुविधीयते, तत् अस्य प्रज्ञाम्, वायुः अम्भसि नावम् इव हरति ।

शब्दार्थ—चरताम् = विषयों में विचरण करती हुई, यत् अनुविधीयते = जिस एक इन्द्रिय का अनुगमन करने लगता है अर्थात् जिस इन्द्रिय के साथ चला जाता है, तत् = वह इन्द्रिय, अस्य = इस साधक की, प्रज्ञाम् = बुद्धि को, अम्भसि = जल में, हरति = विक्षिप्त कर देती है ।

अनुवाद—क्योंकि अपने अपने विषयों में विचरण करती हुई इन्द्रियों में से मन जिस एक इन्द्रिय के साथ लग जाता है, वह इन्द्रिय इस साधक की बुद्धि को उसी प्रकार विषयासक्त कर विक्षिप्त कर देता है जैसे वायु जल में (प्रमादी केवट की) नाव को विक्षिप्त कर देता है ।

भावार्थ—जब एक ही इन्द्रिय बुद्धि को विक्षिप्त कर देती है फिर बहुत सी इन्द्रियाँ यदि मन के साथ बुद्धि को हर लें तो आश्चर्य ही क्या ।

प्रसंग—इन्द्रिय संयम ही स्थितप्रज्ञता का साधन है, इसी बात को उपसंहृत करते हुए भगवान् कहते हैं—

तस्माद् यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।। ६८ ।।

अन्वय—तस्मात् हे महाबाहो ! यस्य इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यः सर्वशः निगृहीतानि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।

शब्दार्थ—सर्वशः = सब प्रकार से; निगृहीतानि = वशीकृत ।

अनुवाद—इसलिये हे विशालबाहु अर्जन ! जिसकी इन्द्रियाँ विषयों से सब प्रकार वशीकृत हैं, उसकी बुद्धि परमात्मा में स्थिर है ।

भावार्थ—जितेन्द्रिय की ही बुद्धि परमात्मा में स्थिर होती है और वही स्थित प्रज्ञ होता है, विषयासक्त मनुष्य कदापि नहीं ।

प्रसंग—विषयासक्त और जितेन्द्रिय पुरुषों में अन्तर बतलाते हुए भगवान् कहते है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।।६९।।

अन्वय—सर्वभूतानाम् या निशा तस्याम् संयमी जागर्ति, यस्याम् सर्वभूतानि जाग्रति, पश्यतो मुनेः सा निशा ।

शब्दार्थ—संयमी = स्थित प्रज्ञ, जो जितेन्द्रिय होकर परमात्म तत्व को प्राप्त हो चुका है । पश्यतः = स्थित प्रज्ञ–ज्ञानी जन ।

अनुवाद—सम्पूर्ण अविवेकी अज्ञानी जनों के लिये जो रात्रि है अर्थात् रात्रि के समान है उस नित्य प्रकाशानन्द रूप परमात्म तत्व की प्राप्ति में स्थित प्रज्ञ योगी जागता है अर्थात् उसे प्राप्त कर नित्य शान्ति और नित्य तृप्ति का अनुभव करता है, और जिस क्षणिक नाशवान सांसारिक सुख प्राप्ति में समस्त अज्ञानी वर्ग जागता है अर्थात् सुखानुभव करता है, स्थित प्रज्ञ योगी के लिए वह रात्रि के समान है ।

भावार्थ—वस्तुतः यहाँ ज्ञानियों और अज्ञानियों के अनुभव की विलक्षणता को रात्रि के रूपक द्वारा बतलाया गया है—जिस प्रकार नेत्र दोष के कारण उल्लू को प्रकाशवान् दिन में भी अन्धकार ही अनुभव होता है उसी प्रकार नित्य प्रकाशमय आनन्दधन परमात्मा के रहते हुए भी अज्ञानी जन अपने अज्ञान के कारण उसे नहीं देख पाते यही सर्वभूतों की रात्रि है संयमी के लिए वह दिन है अतएव वह जागता रहता है । जिन सांसारिक सुखों में अज्ञानी जन जागते रहते हैं संयमी उनकी ओर से उदासीन रहता है यही अज्ञानियों का सोना और संयमी का जागना है । ज्ञानियों और अज्ञानियों के अनुभव में रात्रि व दिन के समान महान् अन्तर है ।

प्रसंग—उक्त प्रसंग में ही भगवान् समुद्र के रूपक द्वारा ज्ञानी और अज्ञानी जनों के लिए परमशान्ति प्राप्ति में अन्तर बतलाते हुए कहते हैं—

अपूर्यमाण मचल प्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामायं प्रविशन्ति सर्वे स शान्ति माप्नोति न कामकामी ॥७०॥

अन्वय—यद्वत् आपः आपूर्यमाणम् अचलप्रतिष्ठम् समुद्रम् प्रविशन्ति, तद्वत् सर्वे कामाः यं प्रविशन्ति स शान्तिम् आप्नोति न कामकामी ।

शब्दार्थ—यद्वत् = जैसे, आपः = विविध नद-नदियों के जल, आपूर्यमाणम् = सब ओर से अगाध जल से परिपूर्ण, अचलप्रतिष्ठम् = अचल

स्थिति वाले अर्थात् जो अनेक नदियों के जल से तथा आँधी तूफानों से भी मर्यादित बना रहने वाला है, तद्वत् =उसी प्रकार, सर्वे कामाः=सम्पूर्ण कामनायें अर्थात् सम्पूर्ण इन्द्रिय विषय, यम्=जिस स्थित प्रज्ञ पुरुष में, कामकामी=भोगों की कामना वाला।

अनुवाद—जिस प्रकार (विविध नदियों के) जल, सब ओर से अगाध जल राशि से पूरिपूर्ण एवं अचल स्थिति वाले समुद्र में (उसको विकृत या विचलित बिना किये हुये हो) प्रविष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार जिस स्थित प्रज्ञ योगी में सम्पूर्ण इन्द्रियविषय (उसमें किसी भी प्रकार का विकार उत्पन्न किये बिना ही) प्रविष्ट होते हैं, वही परम शान्ति प्राप्त करता है, भोगों की कामना रखने वाला अज्ञानीजन कदापि नहीं।

भावार्थ—जिस प्रकार सर्वतः जलराशि से परिपूर्ण, अचल स्थिति वाले समुद्र को अगाध जलराशि, आधी, तूफान आदि अमर्यादित नहीं कर पाते उसी प्रकार आप्तकाम, परमात्म तत्व को प्राप्त योगी को, प्रारब्धवश प्राप्त होने वाले नाना सांसारिक भोग विकृत नहीं कर सकते, अनुकूल प्रतिकूल भोगों की प्राप्ति तो योगी के लिये भी प्रारब्धतः अनिवार्य है, पर समुद्र के समान अचल प्रतिष्ठ इस योगी को ये भोग प्राप्त होकर भी विकृत नहीं कर सकते अर्थात् उसमें राग द्वेष हर्ष शोकादि विकार उत्पन्न नहीं कर सकते अतएव वह परमशान्ति का भागी बनता है।

प्रसंग—अर्जुन के 'व्रजेत् किम्' इस चतुर्थ प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् स्थितप्रज्ञ के आचरण को बतलाते हैं।

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमाँश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्ति मधि गच्छति ।।७१।।

अन्वय—यः पुमान् सर्वान् कामान् विहाय निःस्पृहः निर्ममः, निरहंकारः सन् चरति स शान्तिम् अधिगच्छति।

शब्दार्थ—पुमान=पुरुष, कामान्=कामनाओं को।

अनुवाद—जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं को छोड़कर, इच्छारहित, ममता रहित एवं अहंकार रहित होकर विचरण करता है वही शान्ति पाता है (अन्य नहीं)।

भावार्थ—निर्मम निरहंकार एवं निःस्पृहजन ही शान्तिभोगी होती है।

प्रसंग—स्थितप्रज्ञ की स्थिति का महत्व बतलाते हुए भगवान कहते हैं।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्त कालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥७२॥

अन्वय—हे पार्थ ! एषा ब्राह्मी स्थितिः (अस्ति) एनां प्राप्य (योगी) न विमुह्यति, अन्त कालेऽपि अस्याम् स्थित्वा ब्रह्मनिर्वाणम् ऋच्छति।

शब्दार्थ—एषा=यह (ऊपर बतलाई हुई) ब्राह्मी स्थितिः=ब्रह्म या परमात्मतत्व को प्राप्त हुए योगी की स्थिति (है) विमुह्यति=मोह को प्राप्त नहीं होता। अन्त कालेऽपि=मरण काल में भी, अस्याम्=इस ब्राह्मी स्थिति में स्थित्वा=स्थित होकर, ब्रह्मनिर्वाणम्=ब्रह्मानन्द को, ऋच्छति=प्राप्त करता है।

अनुवाद—हे अर्जुन ! यह (ऊपर बतलाई गई) ब्राह्मी स्थिति अर्थात् ब्रह्म तत्व को प्राप्त स्थितप्रज्ञ की स्थिति है, इस स्थिति को प्राप्त करके (पुरुष) मोह को प्राप्त नहीं होता, अन्त समय में भी इस स्थिति में स्थित होकर वह ब्रह्मानन्द को प्राप्त होता है।

भावार्थ—ब्रह्म, ईश्वर, जीव, संसार, आदि के विषय में अज्ञान ही मोह है, ब्राह्मी स्थिति को अन्त समय में भी प्राप्त मनुष्य परमानन्द को प्राप्त करता है।

इति सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः

अथ तृतीयोऽध्यायः

प्रसंग——प्रस्तुत अध्याय में कर्मयोग का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है, जो कि ऐकान्तिक श्रेयः साधन के लिये अत्यावश्यक है। प्रथम दो श्लोकों द्वारा अर्जुन, भगवान् से अपने श्रेयः साधन के लिये पूँछते हैं—

जायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धि र्जनार्दन !
तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ! ॥१॥

अन्वय—हे जनार्दन ! चेत् ते कर्मणः बुद्धिः ज्यायसी मता, तत् हे केशव ! घोरे कर्मणि माम् किं नियोजयसि।

शब्दार्थ—जनार्दन = जिससे सब लोग स्वाभीष्ट सिद्धि की याचना करें (सर्वै र्जनैरर्द्यते याच्यते स्वाभीष्टसिद्धये इति जनार्दनः) ज्यायसी = श्रेष्ठ, मता = मान्य है, तत् = तो, नियोजयसि = लगाते हो।

अनुवाद—हे जनार्दन ! यदि आपको कर्म की अपेक्षा बुद्धि (ज्ञान) श्रेष्ठ मान्य है तो हे केशव ! घोर (भयानक युद्धरूप) कर्म में मुझे क्यों लगाते हो ?

भावार्थ—यदि कर्म की अपेक्षा ज्ञान ही श्रेष्ठ हैं जैसाकि आपने द्वितीय अध्याय में बतलाया है तो फिर युद्ध करने के लिये मुझे क्यों प्रेरित करते हो, क्योंकि युद्ध एक भयानक कर्म है।

प्रसंग—पूर्व प्रसंग में ही अर्जुन भगवान् से पूँछते हैं—

व्यामिश्रेणैव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम ॥२॥

अन्वय—व्यामिश्रेण इव वाक्येन मे बुद्धिम् मोहयसि इव, तत् एकम् निश्चित्य वद येन अहम् श्रेयः अवाप्नुयाम्।

शब्दार्थ—व्यामिश्रेण = मिले जुले-मिश्रित, श्रेयः = परमकल्याण।

अनुवाद—मिश्रित जैसे वाक्य से (आप) मेरी बुद्धि को मोहित सी कर रहे हैं, अतः उस एक बात को निश्चित करके कहिये, जिससे कि मैं परम-कल्याण प्राप्त करूँ।

भावार्थ—ज्ञानयोग और कर्मयोग से मिश्रित जैसे वाक्य द्वारा मानो आप मेरी बुद्धि को भ्रम में डाल रहे हैं, आप इन दोनों में से कौन सा योग श्रेष्ठ है यह बतलाइये, जिससे कि में शाश्वत शान्ति और नित्यानन्द प्राप्त कर सकूँ।

प्रसंग—अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं—

लोकेऽस्मिन् द्विधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानध !
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

अन्वय—हे अनघ ! अस्मिन् लोके द्विधा निष्ठा मया पुरा प्रोक्ता, (सा च) सांख्यानाम् ज्ञानयोगेन, योगिनाम् कर्म योगेन (भवति)

शब्दार्थ—अनघ = निष्पाप। द्विधा निष्ठा—दो प्रकार की स्थिति, पुरा = पहिले अर्थात् द्वितीय अध्याय में, प्रोक्ता = कही गई हैं। सांख्यानाम् ज्ञानयोगेन = ब्रह्मभूत ज्ञानियों की स्थिति तो ज्ञानयोग साधन से, योगिनां कर्मयोगेन = कर्मयोगियों की निष्ठा या स्थिति भक्ति प्रधान निष्काम कर्मयोग साधन के द्वारा (होती हैं)।

अनुवाद—हे निष्पाप अर्जुन ! दो प्रकार की स्थिति तो मैंने पहिले ही बतला दी हैं, उनमें से तत्वज्ञानियों की निष्ठा तो ज्ञान योग साधन से होती है और कर्मयोगियों की स्थिति निष्काम कर्मयोग साधन द्वारा प्राप्त होती हैं।

भावार्थ—ज्ञान निष्ठा और कर्म निष्ठा दो पृथक् पृथक् स्थिति हैं और उनकी प्राप्ति के साधन भी पृथक् पृथक् है, पर दोनों ही निष्ठायें परम श्रेयः प्राप्ति की हेतु हैं।

प्रसंग—कर्तव्य कर्मों का स्वरूपतः त्याग किसी भी निष्टा का हेतु नहीं है, इसी बात को भगवान् बतलाते हैं—

न कर्मणा मनारम्भा न्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥

अन्वय—पुरुषः कर्मणाम् अनारम्भात् नैष्कर्म्यम् न अश्नुते, न च (कर्मणाम्) संन्यसनात् एव सिद्धिम् समधिगच्छति।

शब्दार्थ—अनारम्भात् = आरम्भ न करने से. नैष्कर्म्यम् = निष्कर्मता

को, अश्नुते=प्राप्त करता है। संन्यसनात्=त्याग मात्र से, सिद्धिम्=सांख्य-निष्ठा को, समधिगच्छति=प्राप्त करता है।

अनुवाद—(कोई भी) पुरुष न तो कर्तव्य कर्मों के आरम्भ किये बिना निष्कर्मता अर्थात् योगनिष्ठा प्राप्त करता है, और न कर्मों के (स्वरूपतः केवल) त्याग मात्र से ही सिद्धि अर्थात् सांख्यनिष्ठा को प्राप्त करता है।

भावार्थ—दोनों ही प्रकार की निष्ठाओं की सिद्धि के लिये कर्तव्य कर्मों का करना अत्यावश्यक है।

प्रसंग—कर्मों के सर्वथा त्याग को असम्भव बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजै र्गुणैः ॥५॥

अन्वय—कश्चित् जातु क्षणम् अपि अकर्मकृत् न हि तिष्ठति। हि सर्वः प्रकृतिजैः गुणैः अवशः (सन्) कर्म कार्यते।

शब्दार्थ—जातु=कदाचिदपि-किसी भी काल में, अकर्मकृत्=बिना कार्य किये हुए, न हि तिष्ठति=नहीं रहता है। हि=क्योंकि, सर्वः—सभी चेतन जीव, प्रकृतिजैः गुणैः=स्वभावोत्पन्न राग द्वेषादि गुणों द्वारा, कर्म कार्यते=कर्म में प्रवृत्त कराया जाता है। अवशः=परतन्त्र होकर।

अनुवाद—कोई भी पुरुष किसी भी काल में (किसी भी अवस्था में) क्षण भर भी बिना कर्म किये हुये नहीं रहता है। क्योंकि समस्त मानव समूह (ज्ञानी अथवा अज्ञानी) स्वभावोत्पन्न राग द्वेषादि गुणों द्वारा परतन्त्र हुआ कर्म में प्रवृत्त करा दिया जाता है।

भावार्थ—मनुष्य अपने स्वभाव वश क्षण मात्र भी बिना कार्य किये नहीं रह सकता अर्थात् उनका स्वरूपतः त्याग नही कर सकता।

प्रसंग—वाह्य इन्द्रियों द्वारा कर्म त्याग कर मन से उसका स्मरण करना कर्मत्याग नहीं है, इसी बात को भगवान् बतला रहे हैं—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

अन्वय—यः विमूढात्मा कर्मेन्द्रियाणि संयम्य मनसा इन्द्रियार्थान् स्मरन् आस्ते, स मिथ्याचारः उच्यते ।

शब्दार्थ—विमूढात्मा=मूढबुद्धि, कर्मेन्द्रियाणि=समस्त दश इन्द्रियों को, संयम्य=वश में करके-रोक करके, इन्द्रियार्थान्=इन दश इन्द्रियों के विषयों को, मिथ्याचारः=कपट पूर्ण व्यवहार करने वाला ।

अनुवाद—जो मूर्ख अविवेकी पुरुष, इन्द्रियों को रोक करके मनसे इन्द्रियों के विषयों को स्मरण करता हुआ रहता है, वह कपट पूर्ण व्यवहार करने वाला या दम्भी कहा जाता है ।

भावार्थ—कर्मेन्द्रिय पद यहाँ सभी वाह्य इन्द्रियों का वाचक है। जो इन्हें रोककर ध्यान के बहाने इनके विषयों का स्मरण करता है वह वस्तुतः दाम्भिक कहा जाता है ।

प्रसंग—इन्द्रियों द्वारा कर्तव्य कर्मों का, निष्काम भाव से करने वाला योगी ही सच्चा कर्म योगी कहा जाता है, इसी बात को बतलाते हुए भगवान् कहते हैं ।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन !
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

अन्वय—हे अर्जुन ! यः तु मनसा इन्द्रियाणि नियम्य असक्तः कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगम् आरभते स विशिष्यते ।

शब्दार्थ—नियम्य=वश में करके, असक्तः=अनासक्त होकर अर्थात् आसक्ति से रहित होकर, कर्मेन्द्रियैः=समस्त इन्द्रियों से, कर्मयोगम् आरभते= कर्मयोग का आचरण करता है, विशिष्यते=विशिष्ट अर्थात् श्रेष्ठ होता है ।

अनुवाद—हे अर्जुन ! किन्तु जो पुरुष मन से इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त भाव से युक्त हुआ समस्त इन्द्रियों द्वारा कर्म योग का आचरण करता है वह विशिष्ट अथवा प्रशंसनीय होता है ।

भावार्थ—मन के साथ इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त भाव से कर्म करना ही कर्मयोग है ।

प्रसंग—अर्जुन को कर्म करने के लिये प्रेरित करते हुये भगवान कहते हैं ।

नियतं कुरु कर्मत्वं, कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥८॥

अन्वय—त्वम् नियतं कर्म कुरु, हि अकर्मणः कर्म ज्यायः, अकर्मणः ते शरीर यात्रा अपि च न प्रसिद्ध्येत् ।

शब्दार्थ—नियतम् कर्म=वर्णाश्रम, स्वभाव, एवं परिस्थिति के अनुकूल शास्त्रोक्त कर्तव्य कर्म, अकर्मणः=कर्म न करने की अपेक्षा, कर्म ज्यायः= कर्म करना श्रेष्ठ है । शरीर यात्रा=शरीर निर्वाह-न प्रसिद्ध्येत्=सिद्ध नहीं हो सकता ।

अनुवाद—तुम शास्त्र बोधित कर्तव्य कर्म करों, क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना ही श्रेष्ठ है, कर्म न करने से तो तेरा शरीर निर्वाह भी नहीं हो सकता ।

भावार्थ—कर्मों का स्वरूपतः त्याग तो सर्वथा असम्भव ही है अतः अनासक्त भाव से कर्म करना ही श्रेयस्कर है कर्मों के बिना तो शरीर निर्वाह भी नहीं हो सकता ।

प्रसंग—जबकि यज्ञादि कर्म भी बन्धन हेतु हैं तो कर्म करना क्यों श्रेष्ठ माना गया है ? इसी जिज्ञासा का समाधान करते हुए भगवान् कहते हैं—

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचार ॥९॥

अन्वय—यज्ञार्थात् कर्मणः अन्यत्र अयं लोकः कर्मबन्धनः (भवति) हे कौन्तेय ! मुक्तसङ्गः (सन्) तदर्थं कर्म समाचार ।

शब्दार्थ—यज्ञार्थात् कर्मणः अन्यत्र=यज्ञ के निमित्त किये जाने वाले कर्म के अतिरिक्त (अन्य कर्मासक्त) अयं लोकः=यह मानव समुदाय, कर्म बन्धनः= कर्मों से बँधता है, तदर्थम्=यज्ञ के लिये, मुक्तसङ्गः=आसक्ति रहित होकर, समाचर=भली भाँति करो, यज्ञ=यज्ञ का अर्थ विष्णु, ईश्वर या ईश्वराराधन है ।

अनुवाद—ईश्वराराधन के निमित्त किये जाने वाले कर्म के अतिरिक्त

(अन्य कर्मासक्त) यह लोक कर्मों से बँधता है, अतः हे अर्जुन ! आसक्ति रहित होकर यज्ञार्थ कर्म को भली भाँति करो।

भावार्थ—यज्ञार्थ कृत कर्म बन्धन हेतु नहीं होता, एतदतिरिक्त कर्म ही बन्धन कारक होते हैं।

प्रसंग—यज्ञ के भाव को स्पष्ट करते हुए भगवान् कहते हैं—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

अन्वय—प्रजापतिः पुरा सहयज्ञाः प्रजाः सृष्टवा उवाच, अनेन प्रसविष्यध्वम्, एष वः इष्टकामधुक् अस्तु।

शब्दार्थ—पुरा=सृष्टि अथवा कल्प के आदि में, प्रजापतिः=ब्रह्मा ने, सहयज्ञाःप्रजाः सृष्ट्वा=यज्ञ-वर्णाश्रमानुकूल शास्त्रविहित यज्ञादिरूप स्वधर्म पालन-के साथ प्रजाओं की सृष्टि कर अथवा यज्ञाधिकृत ब्राह्मणादि प्रजाजनों को रचकर। अनेन=इस यज्ञ विधान के द्वारा, प्रसविष्यध्वम्=वृद्धि-उत्तरोत्तर समुन्नति प्राप्त करो, एष=यह यज्ञ, वः=तुम लोगों को, इष्ट कामधुक्=अभीष्ट सिद्धि देने वाला, अस्तु=हो।

अनुवाद—ब्रह्मा ने सृष्टि के आदि काल में यज्ञ सहित प्रजाओं की सृष्टि कर कहा, इस यज्ञ से वृद्धि प्राप्त करो, यह तुम लोगों को अभीष्ट प्रद बने।

भावार्थ—प्रजापति ने कहा कि शास्त्रबोधित स्वकर्त्तव्य कर्म करने से तुम लोग उन्नति प्राप्त करो, स्वधर्म पालन ही सभी अभीष्ट सिद्धि को देने वाला होता है।

प्रसंग—उक्त प्रसंग में ही भगवान् कहते हैं—

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

अन्वय—(यूयम्) अनेन देवान् भावयत, ते देवाः वः भावयन्तु, (एवम्) परस्परम् भावयन्तः परम् श्रेयः अवाप्स्यथ।

शब्दार्थ—अनेन=इस यज्ञ के द्वारा, भावयत=संवृद्धि करो, वः=तुम लोगों को, भावयन्तु=समृद्धिशाली बनायें अवाप्स्यथ=पाओगे।

अनुवाद—इस यज्ञ से (तुम लोग) देवताओं को संवृद्ध करो, वे देवता तुम लोगों को समुन्नत करें, इस प्रकार परस्पर सम्वर्धन करते हुए तुम लोग परम कल्याण प्राप्त करोगे।

भावार्थ—परस्पर सम्वर्धन के द्वारा परम कल्याण प्राप्त होता है, यज्ञ से देवता प्रसन्न होते हैं तब वे सामयिक वृष्टि आदि से मानव लोक को प्रसन्न करते हैं।

प्रसंग—उक्त प्रसंग में ही भगवान कहते हैं—

इष्टान् भोगान हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तै र्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

अन्वय—यज्ञभाविता देवा हि वः इष्टान् भोगान् दास्यन्ते, तैः दत्तान् (भोगान्) यः एभ्यः अप्रदाय भुङ्क्ते स स्तेन एव।

शब्दार्थ—यज्ञभाविताः=यज्ञों के द्वारा सम्बर्धित किये गये, वः=तुम लोगों को, इष्टान्=चाहे हुये, तैः दत्तान्= उन देवताओं के द्वारा वृष्ट्यादि द्वारा दिये गये अन्नादि भोगों को, एभ्यः अप्रदाय=इनको न देकर, स्तेन एव =चोर ही।

अनुवाद—यज्ञों द्वारा सम्वर्धित किये गये देवता तुम लोगों को निश्चय ही अभिलषित भोगों को देंगे, अतः उन देवताओं द्वारा दिये गये (अन्नादि भोगों को) इन लोगों को (पञ्च महायज्ञादि विधिद्वारा) न देकर जो खाता है, वह चोर ही है।

भावार्थ—जबकि यज्ञ से प्रसन्न हुये देवता हम लोगों को इष्ट भोग देते हैं तो उनको यज्ञादि द्वारा न देकर जो स्वयं सब खा लेता है। उसे चोर ही समझना चाहिए।

प्रसंग—केवल आत्मशरीरपोषण के लिये कर्म करने वाला निन्द्य होता होता है, इसी बात को बतलाते हुये भगवान् कहते हैं—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुञ्जते तेत्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

अन्वय—यज्ञशिष्टाशिनः सन्तः सर्वकिल्विषैः मुच्यन्ते, ते तु पापाः अघं भुञ्जते ये आत्मकारणात् पचन्ति।

शब्दार्थ—यज्ञशिष्टाशिनः=यज्ञ से शेष बचे हुये अन्नादि पदार्थों को खाने वाले, सन्तः=श्रेष्ठ जन, सर्वकिल्विषैः=सब पापों से, मुच्यन्ते=छूट जाते हैं। पापाः=पापी, अधम्=पाप को, आत्मकारणात्=आत्म शरीर पोषण के लिये।

अनुवाद—यज्ञशेष अन्नादि को खाने वाले श्रेष्ठ जन सभी पापों से मुक्त हो जाते हैं, परन्तु वे पापी जन तो पाप ही खाते हैं जो आत्मकारण अर्थात् आत्म शरीर पोषणमात्र के लिये अन्नादि पकाते हैं।

भावार्थ—यज्ञ शेष को खाने वाले तो पापमुक्त हो जाते हैं, परन्तु अपने शरीर पोषण के लिये ही कर्म करने वाले पापी होते हैं।

प्रसंग—सृष्टि चक्र को सुरक्षित रखने के लिये यज्ञ करने की आवश्यकता का निर्देश करते हुये भगवान् कहते हैं—

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥
कर्मब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

अन्वय—भूतानि अन्नाद् भवन्ति, पर्जन्यात् अन्नसम्भवः। पर्जन्यः यज्ञात् भवति, यज्ञः कर्मसमुद्भवः। कर्म ब्रह्मोद्भवम्, ब्रह्म अक्षरसमुद्भवम् (च) विद्धि, तस्मात् सर्वगतम् ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् (अस्ति)।

शब्दार्थ—भूतानि=प्राणी, अन्नाद् भवन्ति=अन्न अर्थात् समस्त खाद्य भोज्य पेयादि पदार्थ जिनसे वीर्यरक्तादि बनते हैं, इसीसे उत्पन्न होते हैं। पर्जन्यात्=मेघ से अर्थात् मेघों द्वारा की जाने वाली वृष्टि से, अन्नसमुद्भवः =खाद्यान्नादि पदार्थ उत्पन्न हुये हैं। यज्ञात्=समस्त शास्त्र बोधित सत्कर्म से, कर्मसमुद्भवः=शास्त्रविहित क्रियासमुदाय से उत्पन्न हुआ है। कर्म= समस्त कर्तव्य कर्म, ब्रह्मोद्भवम्=वेद से उत्पन्न, विद्धि=जानो, अक्षर-समुद्भवम्=अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न।

अनुवाद—वीर्य और रक्त रूप में परिणत समस्त खाद्य पदार्थों से प्राणी उत्पन्न होते हैं। अन्न की उत्पत्ति मेघों अर्थात् वृष्टि से होती है। मेघ यज्ञ से उत्पन्न होता है और यज्ञ सत्कर्म से उत्पन्न होता है, सत्कर्म को वेद से

और वेद को अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न जानो, इससे स्पष्ट है कि सर्व-व्यापक परम अक्षर ब्रह्म सदा ही यज्ञ में प्रतिष्ठित रहता है।

भावार्थ—प्रस्तुत प्रकरण में अन्न शब्द समस्त खाद्य पदार्थों का जोकि रक्तवीर्यादि बनने के कारण होते हैं, वाचक है। यज्ञ शब्द समस्त सत्कर्मों का वाचक हैं। ब्रह्म शब्द वेद का तथा चतुर्थ पंक्ति में ब्रह्म शब्द परात्परब्रह्म का वाचक है।

प्रसंग—इस प्रकार सृष्टि चक्र की रक्षा के लिये जो यज्ञ नहीं करता वह निन्द्य है, इस बात को भगवान् बतलाते हैं—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ।।१६।।

अन्वय—हे पार्थ ! यः इह एवं प्रवर्तितं चक्रम् न अनुवर्तयति, स इन्द्रियारामः अघायुः मोघं जीवति।

शब्दार्थ—इह=इस लोक में, प्रवर्तितं चक्रम्=परम्परागत प्रचलित सृष्टि चक्र को, न अनुवर्तयति=अनुकूल आचरण नहीं करता, इन्द्रियारामः=इन्द्रियों द्वारा भोगों में रमण करने वाला, अघायुः=पापायु-पापी, मोघम्=व्यर्थ ही।

अनुवाद—हे अर्जुन ! जो पुरुष इस लोक में इस प्रकार परम्पराप्राप्त प्रचलित सृष्टिचक्र के अनुकूल आचरण नहीं करता अर्थात् शास्त्रविहित सत्कर्म नही करता, इन्द्रियों द्वारा भोगों में रमण करने वाला पापी वह व्यर्थ ही जीता है अर्थात् उसका जीवन व्यर्थ है।

भावार्थ—जो सृष्टिचक्र की रक्षा के लिये यज्ञादि सत्कर्म नहीं करता वह सृष्टि घातक होने के कारण पापी और इन्द्रियों द्वारा विषयासक्त व्यक्ति व्यर्थ ही जीवन धारण करता है।

प्रसंग—सत्कर्म करने का उपदेश अज्ञानियों के लिये ही, उनकी अन्तःकरण की शुद्धि के लिये, हैं, ज्ञानियों के लिये कर्मों का उपयोग नहीं है, इसी बात को भगवान अग्रिम दो श्लोकों द्वारा बतलाते हैं—

यस्त्वात्मरति रेवस्या दात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।।१७।।

अन्वय—यः तु मानवः आत्मरतिः एव, आत्मतृप्तः च, आत्मनि एव च संतुष्टः स्यात् तस्य कार्यं न विद्यते ।

शब्दार्थ—आत्मरतिः = जिसकी एक मात्र परमात्मा में ही अटल स्थिति एवं प्रतीति है, आत्मतृप्तः=परमात्मतत्व में अनन्यभाव से स्थित होकर जो पूर्णकाम हो गया है, आत्मन्येव च संतुष्टः=जो आत्म स्वरूप में ही पूर्ण सन्तुष्टि एवं तृप्ति प्राप्त कर किसी भी ऐहिक पदार्थ की अभिलाषा नहीं रखता ।

अनुवाद—परन्तु जो मनुष्य आत्मस्वरूप में ही प्रीति रखने वाला, पूर्णकाम एवं नित्यतृप्त तथा आत्मा में ही सन्तुष्ट रहने वाला है उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है ।

भावार्थ—आत्मरति नित्यतृप्त पूर्णकाम ज्ञानी पुरुष के लिये कोई कर्तव्य कर्म नहीं है, कर्तव्यकर्मों का विधान तो केवल अज्ञानी जीवों के लिये ही है ।

प्रसंग—उक्त प्रसंग में ही भगवान् कहते हैं—

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चनं ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ।।१८।।

अन्वय—तस्य इह कृतेन नैव कश्चित् अर्थः, न चापि अकृतेन (कश्चिदर्थः) न च अस्य सर्वभूतेषु कश्चित् अर्थव्यपाश्रयः (अस्ति)

शब्दार्थ—तस्य=उस परमात्मस्वरूप को प्राप्त योगी का, कृतेन=किये गये कर्म से, कश्चिदर्थः=कोई प्रयोजन, अकृतेन=न किये गये अर्थात् परित्यक्त या अनारब्ध कर्म से, अर्थ व्यपाश्रयः=स्वार्थसम्बन्ध ।

अनुवाद—उस परमात्मस्वरूप योगी का, इस लोक में, न तो कृतकर्म से ही कोई प्रयोजन रहता है और न, न किये गये कर्म से ही कोई प्रयोजन रहता है तथा और न इसका सब प्राणियों से ही कोई स्वार्थ सम्बन्ध ही रहता है ।

भावार्थ—परमात्मस्वरूप को प्राप्त महापुरुष के लिये कोई विधि-निषेधात्मक कर्मविधान नहीं है, उसके कर्म करने अथवा न करने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, करने से कोई फल नहीं, न करने से कोई दोष नहीं होता, सभी प्राणिवर्ग से भी उसका कोई स्वार्थ सम्बन्ध भी नहीं रहता,

साधक भले ही जीवन निर्वाह के लिये कुछ सत्कर्म करे, पर पूर्णकाम योगी का कोई कहीं भी स्वार्थ नहीं होता।

प्रसंग—अर्जुन को अनासक्त भाव से स्वकर्तव्य कर्म करने का उपदेश देते हुये भगवान् कहते हैं—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

अन्वय—तस्मात् त्वम् असक्तः (सन्) सततम् कार्यम् कर्म समाचर, हि पूरुषः असक्तः (सन्) कर्म आचरन् परम् आप्नोति।

शब्दार्थ—सततम्=निरन्तर, असक्तः=आसक्ति से रहित होकर कार्यं कर्म=वर्णाश्रम, स्वभाव और परिस्थिति के अनुकूल शास्त्रविहित कर्तव्य कर्म हि=यतः, परम्=मोक्ष अथवा परमात्मा को।

अनुवाद—इसलिये तुम आसक्ति से रहित होकर निरन्तर कर्तव्य कर्म को भली भाँति करो, क्योंकि आसक्ति से रहित होकर कर्म करता हुआ पुरुष परमात्मा को प्राप्त करता है।

भावार्थ—अनासक्त भाव से कर्तव्य पालन करने वाला ही मनुष्य परमात्मा को प्राप्त करता है।

प्रसंग—उक्त बात की पुष्टि में भगवान् कहते हैं—

कर्मणैव हि संसिद्धि मास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रह मेवापि संपश्यन् कर्तु मर्हसि ॥२०॥

अन्वय—जनकादयः हि कर्मणा एव संसिद्धिम् आस्थिताः, लोकसंग्रहम् एव अपि संपश्यन् कर्तुम् अर्हसि।

शब्दार्थ—संसिद्धिम्=परम सिद्धि को, आस्थिताः=प्राप्त हुये, लोक-संग्रहम्=अपने द्वारा कृत कर्मों से सबको स्वकर्तव्य कर्म करने के लिये प्रेरित करना।

अनुवाद—यतः जनक आदि (ज्ञानीजन) (अनासक्त) कर्म द्वारा ही पर-मार्थ सिद्धि को प्राप्त हुए थे, (अतः) (तुम लोक संग्रहार्थ अर्थात् स्वकृत कर्मों द्वारा लोक को सन्मार्ग पर लगाने के लिये भी भली भाँति देखते हुये कर्म करने योग्य हो अर्थात् तुमको कर्म करना चाहिये।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष के लिये यद्यपि अपने लिये कर्मों का कोई फल नहीं है तथापि उसे लोक संग्रहार्थ भी कर्म करने चाहिये।

प्रसंग—कर्म करने से लोक संग्रह होता है, इसी बात को बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते, लोकस्तदनु वर्तते ॥२१॥

अन्वय—श्रेष्ठः यत् यत् आचरति, इतरः जनः तत् तत् एव आचरति, स यत् प्रमाणग् कुरुते, लोकः तत् अनुवर्तते।

शब्दार्थ—इतरः=अन्य, अनुवर्तते=अनुगमन करता है।

अनुवाद—श्रेष्ठ पुरुष जो जो (जैसा जैसा) आचरण करता है अन्य जन (भी) वह वह (वैसा वैसा ही) आचरण करता है। श्रेष्ठ जन जो प्रमाण कर देता है अर्थात् अपने कर्मों द्वारा जिन जिन कर्मों एवं व्यवहारों तथा आचरणों को प्रमाणित एवं अवश्य करणीय बता देता है, लोक उसी का अनुगमन करने लगता है।

भावार्थ—मनुष्य स्वभावतः महा पुरुष के कर्मों का अनुसरण करता है अतएव महापुरुष को लोक शिक्षणार्थ कर्म करना चाहिए।

प्रसंग—अपने उदाहरण द्वारा भगवान् वर्णाश्रमानुकूल कर्मों के करने की अवश्यकर्तव्यता को बतलाते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

अन्वय—हे पार्थ ! त्रिषु लोकेषु मे किञ्चन कर्तव्यम् न अस्ति, न अवाप्तव्यम् अनवाप्तम् अस्ति, (तथापि अहम्) कर्माणि एव च वर्ते।

शब्दार्थ—किञ्चन कर्तव्यं नास्ति=कुछ भी कर्तव्य नहीं है। अवाप्तव्यम्=प्राप्तव्य वस्तु, अनवाप्तम्=अप्राप्त, वर्ते=बरतता हूँ अर्थात् आचरण करता हूँ।

अनुवाद—हे अर्जुन ! तीनों लोकों में मेरे लिये न तो कुछ भी कर्तव्य है और न कोई प्राप्तव्य पदार्थ ही अप्राप्त है तथापि मैं (सदा) कर्म में ही संलग्न हूँ अर्थात् यथोचित कर्मों का आचरण करता रहता हूँ।

प्रसंग—उक्त प्रसंग में ही भगवान् कहते हैं—

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्य तन्द्रितः ।
मम वर्त्मानु वर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।।२३।।

अन्वय—यदि अहम् हि जातु अतन्द्रितः (सन्) कर्मणि न वर्तेयम्, हे पार्थ मनुष्याः सर्वशः मम वर्त्म अनुवर्तन्ते ।

शब्दार्थ—जातु=कदाचित्, अतन्द्रितः=सावधान होकर ।

अनुवाद—यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्म में न वरतूँ अर्थात् कर्मानुष्ठान न करूँ (तो बड़ी हानि हो जाये क्योंकि) हे पार्थ ! मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुवर्तन करते हैं अर्थात् जैसा में करता हूँ वैसा ही वे भी करते हैं ।

भावार्थ—यतः लोग मेरा अनुवर्तन करते है अतः यदि में कर्तव्य कर्म न करूँ तो अन्य लोग भी कर्मों का त्याग कर देंगे, इससे सृष्टि चक्र ही नष्ट हो जायेगा ।

प्रसंग—कर्म न करने से हानि का निर्देश करते हुए भगवान् कहते हैं—

उत्सीदेयु रिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
सङ्करस्य च कर्ता स्या मुपहन्यामिमाः प्रजाः ।।२४।।

अन्वय—चेत् अहम् कर्म न कुर्याम्, इमे लोका उत्सीदेयुः, सङ्करस्य च कर्ता स्याम् इमाः प्रजाः उपहन्याम् ।

शब्दार्थ—चेत्=यदि, उत्सीदेयुः=नष्ट भ्रष्ट हो जाय, सङ्करस्य=वर्ण सङ्करता का, कर्ता=करने वाला, उपहन्याम्=नाश करूँ ।

अनुवाद—यदि मैं कर्म न करूँ, तो यह मानव लोक नष्ट भ्रष्ट हो जाय, तथा मैं (इसके फल स्वरूप) वर्णसङ्करता का करने वाला बनूँ, और (इस प्रकार) समस्त इन प्रजाओं का नाशक बनूँ ।

भावार्थ—मेरे द्वारा कर्म न करने से लोग मेरा ही अनुकरण कर कर्म त्याग कर स्वेच्छाचारी बन जायेंगे, फलतः भ्रष्ट पापी स्वार्थान्ध एवं कुकर्मी हो जाने से मानव जन्म ही नष्ट हो जायेगा । 'संकर' पद से यहाँ सभी प्रकार की वर्ण, आश्रम, स्वभाव, जाति, समाज, देशगत संकरता (मिश्रण) का ग्रहण है । यह संकरता सर्वनाश का कारण होती है ।

प्रसंग—ज्ञानी को भी कर्म करने का आदेश देते हुये भगवान् कहते हैं—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद् विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षु लोकसंग्रहम् ॥२५॥

अन्वय—हे भारत ! कर्मणि सक्ताः अविद्वांसः यथा (कर्म कुर्वन्ति, लोक-संग्रहम् चिकीर्षुः विद्वान् अपि असक्तः सन् तथा कुर्यात् ।

शब्दार्थ—अविद्वांसः=अज्ञानीजन, चिकीर्षुः=करने की इच्छा रखने वाला, विद्वान्=ज्ञानी पुरुष ।

अनुवाद—हे अर्जुन ! कर्म में आसक्त हुये अज्ञानी जन जिस प्रकार कर्म करते हैं, लोक संग्रह करने की इच्छा करता हुआ ज्ञानीजन भी अनासक्त होकर उसी प्रकार कर्म करे ।

भावार्थ—जिस प्रकार अज्ञानी मनुष्य फलाकांक्षा रखकर कर्म करता है उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष को भी लोकसंग्रह के लिये अनासक्त भाव से कर्म करते रहना चाहिये, जिससे अन्य लोग भी कर्मानुष्ठान में तत्पर रहें ।

प्रसंग—उक्त प्रसंग में ही भगवान् कहते हैं—

न बुद्धिभेदं जनये दज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥२६॥

अन्वय—युक्तः विद्वान् कर्मसङ्गिनाम् अज्ञानाम् बुद्धिभेदम् न जनयेत । (अपितु) सर्व कर्माणि समाचरन् जोषयेत् ।

शब्दार्थ—युक्तः विद्वान्=ब्रह्मस्वरूप में अचल स्थित अनासक्त तत्वज्ञानी पुरुष, कर्मसङ्गिनाम्=आसक्ति पूर्वक कर्मों में लगे रहने वाले, बुद्धिभेदम्=बुद्धि में भ्रम को, न जनयेत्=न उत्पन्न करे । सर्वकर्माणि समाचरन्=समस्त कर्तव्य कर्मों को भली भाँति अनासक्ति पूर्वक करता हुआ । जोषयेत्=सेवन कराये ।

अनुवाद—तत्त्व ज्ञानी पुरुष को, आसक्ति पूर्वक कर्मतत्पर अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम उत्पन्न न करना चाहिए अर्थात् उन्हें कर्मों की ओर से विमुख न करना चाहिए । अपितु स्वयं समस्त कर्तव्य कर्मों को भली भाँति करते हुये उनसे भी कर्म कराना चाहिए ।

भावार्थ—तत्त्वज्ञानी को स्वयं कर्म करते हुए अज्ञानियों से भी कर्म कराना चाहिए उन्हें कर्म से विमुख न करना चाहिये ।

प्रसंग—कर्मासक्त पुरुष की अपेक्षा सांख्ययोगी की विलक्षणता का प्रतिपादन करते हुए भगवान् कहते हैं—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥

अन्वय—कर्माणि सर्वशः प्रकृतेः गुणैः क्रियमाणानि (भवन्ति तथापि) अहंकारविमुढात्मा (अज्ञानी) अहम् कर्ता (अस्मि) इति मन्यते ।

शब्दार्थ—कर्माणि=समस्त सांसारिक क्रियायें, उठना, बैठना, चलना, सोना, जागना, खाना, पीना आदि, सर्वशः=सब प्रकार से, प्रकृतेः गुणैः= अनादि सिद्ध प्रकृति से उत्पन्न सत्व रज तम इन तीन गुणों द्वारा, क्रियमाणानि=की जाती हुई हैं । अहंकारविमूढात्मा=अहंकार से जिसका अन्तःकरण मोहित हो रहा है, जो आत्म अनात्म वस्तु का यथार्थ विवेचन नहीं कर सकता, तथा जिसने अपने अहम्भाव में ही दृढ़ आत्मभाव मान लिया है, अहं कर्ता इति मन्यते=इन समस्त क्रियाओं का कर्ता मैं हूँ ऐसा समझ लेता है । यद्यपि कर्मों से आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं होता क्योंकि वह निर्गुण निराकार एवं निर्विकार होता है तथापि अज्ञानी अहंकारवश कर्मों से आत्म सम्बन्ध जोड़ लेता है ।

अनुवाद—वस्तुतः समस्त सांसारिक क्रियायें प्रकृति से उत्पन्न सत्त्वादि गुणों द्वारा की जाती हैं तथापि अहंकार से जिसका अन्तःकरण मोहित हो गया है ऐसा अज्ञानी पुरुष उन क्रियाओं का कर्ता मैं हूँ ऐसा मान लेता है यद्यपि कर्मों से आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं रहता है ।

भावार्थ—प्रकृति गुणों द्वारा की जाने वाली समस्त क्रियाओं को अज्ञानी अहंकारवश अपने द्वारा की जातीं हुई मान लेता है, और स्वयं उनके फल का भोक्ता बन जाता है ।

प्रसंग—उक्त प्रसंग में ही भगवान् कहते हैं—

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

अन्वय—हे महाबाहो ! गुणकर्मविभागयोः तत्ववित् तु गुणाः गुणेषु वर्तन्ते, इति मत्वा न सज्जते ।

शब्दार्थ—गुणकर्मविभागयोः = गुण विभाग और कर्म विभाग के—सत्वादिगुणों के कार्यरूप बुद्धि, अहंकार, मन, आकाशादि पञ्च महाभूत, श्रोत्रादि दश इन्द्रियाँ और शब्दादि पाँच विषय, इन तेईस तत्वों का समुदाय ही गुण विभाग है । इस गुण विभाग से की जाने वाली समस्त क्रियायें ही कर्म विभाग है, यह सब प्रकृति का ही विस्तार होने से क्षणिक जड़ विनाशी विकारी एवं मायामय है—आत्मा इस गुण कर्म विभाग से अलग है वह निर्गुण निराकार निर्विकार नित्य शुद्ध मुक्त एवं ज्ञान स्वरूप है, इस बात को जानने वाला ही गुणकर्म विभाग का तत्ववेत्ता कहा जाता है । गुणाः गुणेषु वर्तन्ते = गुणों के कार्यरूप बुद्धि अहंकार मन इन्द्रियाँ आदि कारण, गुणों के कार्यरूप अपने-अपने विषयों में वरत रहे हैं, आत्मा का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है । इति मत्वा न सज्जते = तत्व वेत्ता ज्ञानी यह समझकर कर्म में या कर्म फल रूप भोगों में आसक्त नहीं होता ।

अनुवाद—हे महाबाहु अर्जुन ! गुण विभाग और कर्म विभाग के तत्व को जानने वाला सांख्ययोगी तो गुण ही गुणों में बरत रहे हैं, यह मानकर कर्मों में अथवा कर्मजन्य फल भोगों में आसक्त नहीं होता ।

भावार्थ—यहाँ अज्ञानी जन की स्थिति की अपेक्षा सांख्ययोगी की स्थिति में अन्तर बतलाया गया है, अज्ञानी की कर्मों में आसक्ति और फलाकांक्षा रहती है जबकि ज्ञानी गुणकर्म विभाग को समझकर इनमें आसक्ति नहीं करता—कर्म करता हुआ भी वह इनसे आत्मा को पृथक् समझता है ।

प्रसंग—आत्मतत्व को पूर्णतया समझने वाले महापुरुषों को, कर्मासक्त अज्ञानियों को विचलित न करना चाहिये, इसी तत्व को बतलाते हुये भगवान् कहते हैं—

प्रकृते र्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तान् कृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥

अन्वय--प्रकृतेः गुणसंमूढ़ाः गुणकर्मसु सज्जन्ते, तान् अकृत्स्नविदः मन्दान् कृत्स्नवित् न विचालयेत् ।

शब्दार्थ—गुणसंमूढ़ाः=प्रकृति के सत्वादिगुणों से अतिमोहित अज्ञानी जन, गुणकर्मसु=गुणों और कर्मों में सज्जन्ते=आसक्त होते हैं, अकृत्स्नविदः =यथार्थ तत्व को पूर्णतया न समझने वाले वुद्धिहीन जनों को, कृत्स्नवित्= आत्मतत्व को पूर्णतया जानने वाला।

अनुवाद—प्रकृति के गुणों से अति मोहित अज्ञानी जन गुणों और कर्मों में आसक्त होते हैं उन यथार्थ तत्व को पूर्णतया न समझने वाले बुद्धिहीन अज्ञानियों को, आत्मतत्व को पूर्णतया जानने वाला ज्ञानी पुरुष विचलित न करे, अर्थात् उन्हें शास्त्रोक्त कर्मों में लगा रहने दे।

भावार्थ—कर्मों का पूर्णतया त्याग कर देने से अथवा कुत्सित कर्म करने से, आसक्ति पूर्वक कर्म करते रहना ही अच्छा है, कालान्तर में अनासक्ति भाव भी हो जायेगा, इसीलिये कर्मासक्त को विचलित न करने का उपदेश है।

प्रसंग—कर्मों की अवश्य कर्तव्यता का प्रतिपादन करने के बाद प्रस्तुत श्लोक द्वारा भगवान् अर्जुन को परमकल्याण का साधन बतलाते हैं—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशी निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

अन्वय—अध्यात्मचेतसा मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य निराशीः निर्ममः (च) भूत्वा विगतज्वरः सन् युध्यस्व।

शब्दार्थ—अध्यात्मचेतसा=अर्न्तयामी परमात्मा में स्थिर चित्त के द्वारा, सन्यस्य=अर्पण करके, निराशीः=आशा रहित अर्थात् निष्काम होकर, निर्ममः=ममता रहित होकर, विगतज्वरः=शोक रहित होकर।

अनुवाद—परमात्म तत्व में स्थिर चित्त द्वारा समस्त कर्मों को मुझ में समर्पित करके निष्काम एवं ममता रहित होकर शोकसन्तापहीन होकर युद्ध करो।

भावार्थ—परमेश्वर के अधीन होकर मैं कर्म करता हूँ, मुझे कर्मफल की आकांक्षा नहीं, इस प्रकार की निष्काम बुद्धि से सभी कर्मों को मुझे अर्पित कर आशा और ममता से रहित होकर युद्ध करो।

प्रसंग—कर्तव्य कर्म के फल का निर्देश करते हुये भगवान् कहते हैं—

ये मे मतमिदं नित्य मनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

अन्वय—ये श्रद्धावन्तः अनसूनयन्तः मानवाः मे इदम् मतम् नित्यम् अनुतिष्ठन्ति, ते अपि कर्मभिः मुच्यन्ते ।

शब्दार्थ—श्रद्धावन्तः=श्रद्धायुक्त, अनसूयन्तः=दोष दृष्टि से रहित, अनुतिष्ठन्ति=अनुसरण करते हैं, ते अपि=वे भी, कर्मभिः=कर्मों से अर्थात् कर्मबन्धनों से, मुच्यन्ते=छूट जाते हैं ।

अनुवाद—जो कोई श्रद्धायुक्त और दोष दृष्टि रहित मनुष्य मेरे इस मत का सर्वदा अनुसरण करते हैं वे भी कर्मबन्धनों से मुक्त हो जाते हैं ।

भावार्थ—जो श्रद्धालु मनुष्य इस मेरे द्वारा बतलाये गये अनासक्त कर्मयोग का अनुसरण करते हैं वे भी जन्म-मरण रूप कर्मबन्धनों से मुक्त हो जाते हैं ।

प्रसंग—कर्मानुष्ठान न करने वाले लोगों की स्थिति बतलाते हुये भगवान् कहते हैं—

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

अन्वय—ये तु अभ्यसूयन्तः मे एतद् मतम् न अनुतिष्ठन्ति, अचेतसः सर्वज्ञानविमूढान् तान् नष्टान् विद्धि ।

शब्दार्थ—अभ्यसूयन्तः=दोषारोपण करते हुए, अचेतसः=मूर्ख, सर्वज्ञानविमूढान्=सब प्रकार के ज्ञानों से मोहित, विद्धि जानो ।

अनुवाद—और (मुझ पर) दोषारोपण करते हुये जो मनुष्य मेरे इस मत का अनुसरण नहीं करते, उन मूर्खजनों को सब प्रकार के ज्ञानों से रहित नष्ट हुआ ही जानो ।

भावार्थ—जो लोग मेरे इस मत का अनुसरण नहीं करते उन्हें ज्ञानहीन मूर्ख एवं विनष्ट ही समझना चाहिये ।

प्रसंग—सर्वथा कर्मों का त्याग कर देने से हानि होती है, और स्वभाववश कर्म त्याग किया भी नहीं जा सकता, इसी बात को बतलाते हुये भगवान् कहते हैं—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृते ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ।।३३।।

अन्वय—ज्ञानवान् अपि स्वस्याः प्रकृतेः सदृशं चेष्टते, भूतानि प्रकृतिम् यान्ति, निग्रहः किं करिष्यति ।

शब्दार्थ—ज्ञानवान्=यथार्थतः तत्वज्ञानी, प्रकृतेः सदृशम्=जन्म जन्मान्तर में कृतकर्मों के संस्कार जो स्वभाव रूप में प्रकट होते हैं 'प्रकृति' कहे जाते हैं; इस प्रकृति के सदृश ही, चेष्टते=चेष्टा करता है, निग्रहः=हठ ।

अनुवाद—ज्ञानी पुरुष भी अपनी प्रकृति के अनुसार ही चेष्टा करता है, सभी प्राणी प्रकृति को प्राप्त होते हैं अर्थात् स्वभावानुसार ही कर्म करते हैं, इसमें किसी का हठ क्या करेगा, अर्थात् प्रकृति सबसे बलात् कार्य करा लेती है, इसमें किसी का हठ काम नहीं करता ।

भावार्थ—हठ पूर्वक कोई कर्मत्याग नहीं कर सकता, प्रकृति स्वयं सबसे स्वभावानुसार कार्य करा लेती है, इसीलिये न केवल अज्ञानियों, अपितु ज्ञानियों को भी पूर्वार्जित प्रारब्धवश कर्मचेष्टा करनी ही पड़ती है यद्यपि कर्मों में उनकी कर्तव्य भावना नहीं रहती, अतः हठात् कर्मत्याग का प्रयास व्यर्थ है ।

प्रसंग—कर्मबन्धन से छूटने का उपाय बतलाते हुये भगवान् कहते हैं—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयो र्न वश मागच्छे त्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ।।३४।।

अन्वय—इन्द्रियस्य इन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ, तयोः वशम् न आगच्छेत् हि तौ अस्य परिपन्थिनौ स्तः ।

शब्दार्थ—इन्द्रियस्य इन्द्रियस्यार्थे=इन्द्रिय का इन्द्रिय के अर्थ में अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय का स्वविषय में, व्यवस्थितौ=अवश्यम्भावी हैं—सदा रहते हैं, विषय के संयोग वियोग से राग द्वेष उत्पन्न होते हैं, परिपन्थिनौ= बड़े शत्रु ।

अनुवाद—सभी इन्द्रियों के अपने अपने विषयों में राग द्वेष अवश्यम्भावी हैं अर्थात् वे विषयों के साथ सदा रहा करते हैं, अतएव मनुष्य को उनके वश में न आना चाहिये क्योंकि ये उसके परम शत्रु हैं ।

भावार्थ—विषयों के साथ राग द्वेष वर्तमान रहते हैं जो कि मनुष्य के कल्याण मार्ग के बाधक होने से शत्रु हैं।

प्रसंग—स्वधर्माचरण करते हुये मृत्यु भी श्रेयस्कर है, इसी बात को बतलाते हुये भगवान् कहते हैं—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

अन्वय—स्वनुष्ठितात् परधर्मात् विगुणः स्वधर्मः श्रेयान्, स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मः भयावहः।

शब्दार्थ—स्वनुष्ठितात्=भली भाँति आचरण में लाये गये, परधर्मात् =दूसरे के धर्म से, विगुणः=गुणरहित, श्रेयान्=कल्याणकारी, निधनम् =मृत्यु।

अनुवाद—भली भाँति आचरित परधर्म की अपेक्षा, कुछ अंगहीन, गुण-रहित भी स्वधर्म कल्याणकर होता है। क्योंकि (युद्धादि स्वधर्मपालन में लगे हुये मनुष्य का) स्वधर्म में मरना भी श्रेयस्कर है, किन्तु (भिक्षावृत्ति स्वीकरणादि रूप) परधर्म सदा भयानक होता है।

भावार्थ—स्वधर्म पालन शास्त्र विहित होने से मरने पर भी स्वर्गादि का देने वाला होने से श्रेयस्कर होता है, परन्तु परधर्म निषिद्ध होने से नरकादि देने वाला होने के कारण भयानक होता है। वस्तुतः "गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके" अर्जुन के इस कथन का उत्तर यहाँ दिया गया है, क्षत्रिय का स्वधर्म युद्ध करना हैं, भिक्षावृत्ति उसके लिये परधर्म है।

प्रसंग—जबकि स्वधर्म पालन ही श्रेयस्कर है तो मनुष्य न चाहता हुआ भी क्यों धर्म विरुद्ध पापाचरण में प्रवृत्त होता है, इसी बात को अर्जुन भगवान् से पूँछते हैं—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

अन्वय—हे वार्ष्णेय! अथ अयं पूरुषः अनिच्छन् अपि, बलात् नियोजितः इव केन प्रयुक्तः पापम् चरति।

शब्दार्थ—वार्ष्णेय=कृष्ण, बलादिव नियोजितः=बलात् लगाये हुये की भाँति, प्रयुक्तः=प्रेरित होकर।

अनुवाद—हे कृष्ण ! तो फिर यह मनुष्य, न चाहता हुआ भी, बलपूर्वक लगाये गये की भाँति, किससे प्रेरित होकर पाप कर्म करता है।

भावार्थ—पापों के दुष्परिणाम को प्रत्यक्षतः और अनुमानतः जानता हुआ विद्वान् पुरुष कभी भी इच्छापूर्वक पाप कर्म में प्रवृत्त नहीं होता तथापि कदाचित् बलात् उससे पाप कर्म उसी प्रकार बन ही जाते हैं जैसा रोगी द्वारा कुपथ्य सेवन, इसका क्या कारण है ? इसी बात का उत्तर अर्जुन भगवान् से चाहते हैं।

प्रसंग—अर्जुन को उत्तर देते हुये भगवान् कहते है—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम् ॥३७॥

अन्वय—रजोगुणसमुद्भवः एष कामः (एव) एष क्रोधः (अयम् हि) महाशनः, महापाप्मा (अस्ति) इह एनम् वैरिणम् विद्धि।

शब्दार्थ—रजोगुणसमुद्भवः=रजो गुण से उत्पन्न हुआ, एष कामः एष क्रोधः=यह काम ही क्रोध है, अर्थात् राग के स्थूल रूप काम से द्वेष के स्थूल रूप क्रोध की उत्पत्ति होती है। महाशनः=बहुत अधिक खाने वाला, अर्थात् विषय भोगों से कभी न तृप्त होने वाला, महापाप्मा=बड़ा पापी, विद्धि=जानो।

अनुवाद—रजोगुण से उत्पन्न यह काम (ही) यह क्रोध है, यह विषय भोगों से कभी न तृप्त होने वाला तथा महा पापी है, यहाँ इसे तुम अपना शत्रु जानो।

भावार्थ—इन्द्रिय विषयों में राग द्वेष सदा रहते हैं इन्हीं के स्थूल रूप ये काम और क्रोध हैं, अतः इसे शत्रु ही समझना चाहिये।

प्रसंग—काम को ज्ञान का आच्छादक बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

धूमेनाव्रियते वह्नि र्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

अन्वय—यथा धूमेन वह्निः आव्रियते, यथा च मलेन आदर्शः (आव्रियते) यथा च उल्वेन गर्भः आवृतः तथा तेन इदम् आवृतम् ।

शब्दार्थ—आव्रियते=आच्छादित कर लिया जाता है, आदर्शः=दर्पण, उल्वेन=गर्भवेष्टनचर्म से, आवृतः—आच्छादित रहता है ।

अनुवाद—जिस प्रकार धूम के द्वारा अग्नि आच्छादित कर लिया जाता है और जिस प्रकार दर्पण मल के द्वारा आच्छादित कर लिया जाता है एवं यथा उल्व अर्थात् गर्भवेष्टनचर्म के द्वारा गर्भ आच्छादित रहता है उसी प्रकार काम के द्वारा ज्ञान आच्छादित कर लिया जाता है ।

प्रसंग—उक्त प्रसंग में ही भगवान् कहते हैं—

आवृतं ज्ञान मेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ।।३९।।

अन्वय—हे कौन्तेय ! ज्ञानिनः नित्य वैरिणा अनलेन दुष्पूरेण च एतेन कामरूपेण ज्ञानम् आवृतम् ।

शब्दार्थ—कौन्तेय=अर्जुन, ज्ञानिनो नित्यवैरिणा=ज्ञानी जन के लिये सर्वदा शत्रुरूप (यद्यपि भोगदशा में अज्ञानियों के लिये काम सुखकर प्रतीत होता है तो भी ज्ञानियों के लिये वह उस दशा में भी अनर्थ का हेतु होने के कारण शत्रुवत् ही रहता है अतएव ज्ञानियों के लिये तो काम सदा शत्रु ही रहता है) अनलेन=अग्नि तुल्य दाहक, दुष्पूरेण=विषयों द्वारा पूर्ण किये जाने पर भी कभी पूर्ण न होने वाला अतएव दुष्पूर ।

अनुवाद—हे अर्जुन ! ज्ञानीजन के नित्य शत्रुरूप, अग्नि तुल्य दाहक, कभी पूर्ण न होने वाले इस काम रूप से (मनुष्य का) ज्ञान ढका हुआ है ।

भावार्थ—काम द्वारा ज्ञान के आच्छादित हो जाने से ही मनुष्य नित्यानित्य वस्तु विवेक से शून्य होकर भोगों में लिप्त बना रहता है ।

प्रसंग—काम के निवास स्थान एवं इसके मोहन प्रकार को बतलाते हुये भगवान् कहते हैं—

इन्द्रियाणि मनो बुद्धि रस्याधिष्ठान मुच्यते ।
एतै विमोहयत्येष ज्ञान मावृत्य देहिनम् ।।४०।।

अन्वय—इन्द्रियाणि मनः बुद्धिः अस्य अधिष्ठानम् उच्यते, एष एतैः ज्ञानम् आवृत्य देहिनम् विमोहयति ।

शब्दार्थ—अधिष्ठानम् = वासस्थान, देहिनम् = जीवात्मा को ।

अनुवाद—इन्द्रियाँ, मन, तथा बुद्धि—ये सब इस काम के वास स्थान कहे जाते हैं, यह काम इन इन्द्रियों मन और बुद्धि के द्वारा ही ज्ञान को आच्छादित कर जीवात्मा को मोहित कर लेता है ।

भावार्थ—काम मनुष्य के मन बुद्धि और इन्द्रियों में प्रविष्ट होकर उसकी विवेकशक्ति को नष्ट कर पापों में प्रवृत्त कर देता है ।

प्रसंग—काम को नष्ट करने का उपदेश देते हुये भगवान् कहते हैं—

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ !
पाप्मानं प्रजह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ।।४१।।

अन्वय—तस्मात् हे भरतर्षभ ! त्वम् आदौ इन्द्रियाणि नियम्य ज्ञान-विज्ञाननाशनम् पाप्मानम् एनम् प्रजहि ।

शब्दार्थ—भरतर्षभ = भरत श्रेष्ठ अर्जुन ! आदौ = पहले, नियम्य = वश में करके, पाप्मानम् = पापी, प्रजहि = बलात् नष्ट कर दो ।

अनुवाद—हे भरतवंश श्रेष्ठ अर्जुन ! इसलिये तुम पहिले इन्द्रियों को वश में करके ज्ञान और विज्ञान को नष्ट करने वाले पापी इस काम को बलात् नष्ट कर दो ।

भावार्थ—निर्गुण निराकार तत्व के प्रभाव, माहात्म्य एवं रहस्यमय यथार्थ ज्ञान का नाम ज्ञान है, अथवा आत्म विषयक ज्ञान—ज्ञान कहा जाता है । सगुण साकार तत्व के प्रभाव माहात्म्य लीला रहस्य गुण आदि का यथार्थ ज्ञान—विज्ञान कहा जाता है अथवा शास्त्र विषयक ज्ञान ही विज्ञान है । किन्हीं आचार्यों ने शास्त्राचार्योपदिष्ट ज्ञान को ज्ञान तथा निदध्यासन जनित ज्ञान को विज्ञान कहा है । प्रजहि = से तात्पर्य है सर्वथा नाश ।

प्रसंग—आत्मा के यथार्थ स्वरूप को लक्षित कराते हुये भगवान् कहते हैं—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिः, यो बुद्धेः परतस्तु सः ।।४२।।

अन्वय—इन्द्रियाणि पराणि आहुः, इन्द्रियेभ्यः मनः परम्, मनसः तु बुद्धिः परा, यः बुद्धेः परतः तु सः ।

शब्दार्थ—पराणि = श्रेष्ठ, परतः = अत्यन्त श्रेष्ठ, सः = आत्मा ।

अनुवाद—(स्थूल शरीर की अपेक्षा) इन्द्रियाँ पर अर्थात् श्रेष्ठ सूक्ष्म एवं प्रकाशक हैं । इन्द्रियों से पर मन है, मन से भी पर बुद्धि है, और जो बुद्धि से भी अत्यन्त पर है वही आत्मा है ।

भावार्थ—सूक्ष्म और प्रकाशक होने के कारण इन्द्रियाँ स्थूल शरीर की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं, संकल्प विकल्पात्मक मन, इन्द्रियों से भी श्रेष्ठ है क्योंकि वह इन्द्रियों का प्रवर्तक है । मन से भी श्रेष्ठ बुद्धि है क्योंकि वह निश्चयात्मिका है सबका अन्तर्यामी, प्रकाश स्वरूप, निर्विकार होने से आत्मा सबसे श्रेष्ठ है ।

प्रसंग—आत्मा की श्रेष्ठता बताकर आत्मा को विमोहित करने वाले काम को नष्ट करने के लिये भगवान् कहते हैं—

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

अन्वय—एवं बुद्धेः परम् बुद्ध्वा आत्मना आत्मानम् संस्तम्य, हे महाबाहो ! दुरासदम् कामरूपं शत्रुं जहि ।

शब्दार्थ—एवम् = उक्त प्रकार से. बुद्ध्वा = जानकर; आत्मना = निश्चयात्मिका बुद्धि के द्वारा, आत्मानम् = मन को, संस्तम्य = निश्चल बनाकर, दुरासदम् = कठिनता से वश करने योग्य—दुर्जय, जहि = नष्ट करो ।

अनुवाद—इस उक्त प्रकार से (आत्मा को) बुद्धि से श्रेष्ठ जानकर (अर्थात् बुद्धि आदि में ही कामादि विकार होते हैं आत्मा तो उनका साक्षी निर्विकार ही है अतः वह बुद्धि से श्रेष्ठ एवं सूक्ष्म तत्व है) बुद्धि से मन को निश्चल बनाकर, कठिनता से वश करने योग्य काम रूप शत्रु का विनाश करो ।

भावार्थ—आत्मा परात्पर सर्वश्रेष्ठ है, काम मन बुद्धि आदि को विकृत कर आत्मा को भी विमोहित कर लेता है अतः इसका विनाश करना हीं श्रेयस्कर है ।

इति कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः

●

अथ द्वादशोऽध्याय:

सम्बन्ध—प्रस्तुत अध्याय में भक्ति के साधनों का तथा भगवद्भक्तों के लक्षण बतलाये गये हैं, अतः इस अध्याय का मुख्य प्रतिपाद्य भक्ति ही हैं।

प्रसंग—इससे पूर्व अध्यायों में भगवान् ने कहीं निराकार ब्रह्म की साधना और कहीं साकार भगवान् की उपासना का उपदेश दिया था, अतः अर्जुन के मन में यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि निर्गुण निराकार ब्रह्म की साधना एवं सगुण भगवान की उपासना करने वाले साधको में कौन सा उपासक श्रेष्ठ है अतएव वे भगवान् से पूँछते हैं—

एवं सतत युक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमा: ॥१॥

अन्वय—ये सततयुक्ता: भक्ता: एवम् त्वाम् पर्युपासते। ये च अपि अक्षरम् अव्यक्तम् (पर्युपासते) तेषाम् के योगवित्तमा: (सन्ति)।

शब्दार्थ—सततयुक्ता:=अपने सम्पूर्ण विहित कर्मों को, अनासक्ति भाव से तथा ईश्वरार्पणबुद्धि से करके आप में निरन्तर स्थित रहने वाले, पर्युपासते=निरन्तर चिन्तन भजन आदि के द्वारा आपकी उपासना करते हैं। ये चापि=और जो लोग, अक्षरम्=अविनाशी, अव्यक्तम्=निराकार निर्विशेष ब्रह्म को, योगवित्तमा:=अति उत्तम योगवेत्ता।

अनुवाद—जो, निरन्तर केवल आप में रहने वाले तथा निष्काम कर्म करने वाले भक्तजन इस पूर्वोक्त प्रकार से आपकी उपासना करते हैं अर्थात् निरन्तर भजन ध्यानादि में लगे रहकर आप के सगुण रूप की उपासना करते हैं, और जो लोग अविनाशी निराकार निर्विशेष ब्रह्म का चिन्तन ध्यान करते हैं, इन द्विविध उपासकों में कौन उत्तम योगवेत्ता है?

भावार्थ—अर्जुन पूँछते हैं कि सगुणोपासक भक्तजनों और निर्गुणोपासक ज्ञानियों या कर्म योगियों में कौन उत्तम योगी है।

प्रसंग—अर्जुन को उत्तर देते हुए भगवान् सगुणोपासकों को उत्तम बतलाते हैं—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेता स्ते मे युक्ततमा मता: ॥२॥

अन्वय—मयि मन: आवेश्य नित्ययुक्ता ये परया श्रद्धया उपेता: माम् उपासते, ते मे युक्ततमा मता:।

शब्दार्थ—मयि मन: आवेश्य=सर्वज्ञता एवं शक्ति सम्पन्नतादि गुण विशिष्ट मुझ में मन को लगाकर, नित्ययुक्ता:=निरन्तर मेरे ही चिन्तन

ध्यान में संलग्न रहने वाले भक्तजन, परया श्रद्धया उपेताः=अतिशय श्रद्धा से युक्त होकर, युक्ततमा मताः=वे मुझे योगियों में उत्तम योगी मान्य है।

अनुवाद—मुझ (सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान्) में मन को लगाकर जो निरन्तर मेरे ही चिन्तन में रत रहने वाले भक्तजन, अतिशय श्रद्धा से युक्त होकर मुझ सगुण रूप परमेश्वर की उपासना करते हैं, वे मुझे योगियों में उत्तम योगी मान्य हैं।

भावार्थ—सच्चे सगुणोपासक भक्त ही योगियों में श्रेष्ठ हैं—

प्रसंग—निर्गुणोपासकों की स्थिति बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

ये त्वक्षरमनिर्देश्य मव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थ मचलं ध्रुवम् ॥३॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

अन्वय—ये तु इन्द्रियग्रामम् संनियम्य अचिन्त्यम्, सर्वत्रगम्, अनिर्देश्यम् अव्यक्तम्, कूटस्थम् अचलम् ध्रुवम् च अक्षरम् पर्युपासते, सर्वत्र समबुद्धयः सर्वभूतहिते रताः ते माम् एव प्राप्नुवन्ति।

शब्दार्थ—इन्द्रियग्रामम्=इन्द्रिय समुदाय को, संनियम्य=भली प्रकार वश में करके, अचिन्त्यम्=मन तथा बुद्धि से भी परे, सर्वत्रगम्=आकाशवत् सर्वव्यापक, अनिर्देश्यम्=सब प्रकार से अवर्णनीय, अव्यक्तम्=रूपरहित अतएव अगोचर, कूटस्थम्=किसी भी कारण से अपरिवर्तनीय, सर्वदा एक भाव से रहने वाला, अचलम्=चलनादि क्रियारहित, ध्रुवम्=नित्य, अक्षरम्=अविनाशी ब्रह्म।

अनुवाद—और जो पुरुष इन्द्रिय समूह को भली भाँति वश में करके, मन-बुद्धि से परे, सर्वव्यापक, सर्वथा अनिर्वचनीय, सर्वेन्द्रियों के अविषय, अपरिवर्तनीय, सदा एकभावस्थित, क्रियारहित, नित्य अविनाशी ब्रह्म की उपासना अर्थात् एकाग्रमन से चिन्तन ध्यान करते हैं, सर्वत्र समान बुद्धि रखने वाले (भेद बुद्धि रहित) तथा सभी प्राणियों के हित में रत रहने वाले वे पुरुष भी मुझे ही प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—निर्गुणोपासक ज्ञानी स्वभावतः समबुद्धि एवं सर्वभूतहितरत होते हैं वे भी उसी प्रकार ब्रह्म को प्राप्त होते हैं जैसे सगुणोपासक। परब्रह्म का तत्त्वतः ज्ञान एवं उसकी प्राप्ति तो दोनों प्रकार के उपासकों को होती है पर सगुणोपासक को भगवान् के दर्शन भी होते हैं अतएव भगवान् ने सुगुणो-

पासकों को श्रेष्ठ बतलाया है तथा यह भी निर्देश किया है कि मुझ में और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है, अतएव यहाँ (माम्) का प्रयोग किया गया है।

प्रसंग—साधारणजनों के लिये अव्यक्तब्रह्म की साधना को कठिन बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषा मव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गति र्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥

अन्वय—अव्यक्तासक्तचेतसां तेषाम् अधिकतरः क्लेशः, हि अव्यक्ता गतिः देहवद्भिः दुःखम् अवाप्यते।

शब्दार्थ—अव्यक्तासक्तचैतसाम्=निराकारब्रह्म में आसक्त चित्तवाले, अधिकतरः क्लेशः=साधना में विशेष परिश्रम है, देहवद्भिः=देहाभिमानियों द्वारा, अव्यक्ता गतिः=निराकार ब्रह्म विषयक गति (साधना) दुःखम् अवाप्यते=दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है।

अनुवाद—निराकार ब्रह्म में आसक्तचित्तवाले उन लोगों को अपनी साधना में विशेष श्रम होता है, क्योंकि निराकारब्रह्म विषयक साधना देहाभिमानियों द्वारा दुःख पूर्वक प्राप्त की जाती है।

भावार्थ—सगुणोपासना की अपेक्षा निर्गुणोपासना साधारण जनों के लिए अधिक कठिन है।

प्रसंग—सगुणोपासना से परमात्मप्राप्ति को सरल एवं सुगम बतलाते हुये भगवान् अपने ध्यान और भजन का उपदेश देते हैं—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥

अन्वय—ये तु मत्पराः सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य माम् एव अनन्येन योगेन ध्यायन्तः उपासते।

शब्दार्थ—मत्पराः=भगवान् पर ही सर्वथा निर्भर रहने वाले, अनन्येन योगेन=अनन्य भक्तियोग से।

अनुवाद—और जो मुझ (परमात्मा) पर ही सर्वथा निर्भर रहने वाले भक्तजन, सब कर्मों को मुझ में समर्पण करके (सब कर्मों को ईश्वरार्पण करके) सगुण रूप परमेश्वर को ही अनन्य भक्तियोग से निरन्तर चिन्तन करते हुये भजते हैं।

प्रसंग—सगुणोपासना का फल बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥

अन्वय—हे पार्थ ! तेषाम् मय्यावेशितचेतसाम् (अहम्) मृत्युसंसार-सागरात् न चिरात् समुद्धर्ता भवामि ।

शब्दार्थ—मय्यावेशितचेतसाम्=मुझ में चित्त समर्पित कर देने वाले, न चिरात्=शीघ्र ही, मृत्युसंसारसागरात्=मृत्यु रूपी संसार सागर से, समुद्धर्ता=उद्धार करने वाला ।

अनुवाद—हे अर्जुन ! उन, मुझ में समर्पित चित्त वाले भक्तजनों का मैं मृत्यु रूपी संसार समुद्र से शीघ्र ही उद्धार करने वाला होता हूँ ।

भावार्थ—भक्तों का उद्धार करने वाले भगवान ही होते हैं ।

प्रसंग—अर्जुन को सगुणोपासना का उपदेश देते हुए भगवान् कहते हैं—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ।।८।।

अन्वय—मयि एव मनः आधत्स्व, मयि बुद्धिं निवेशय, अतः ऊर्ध्वं मयि एव निवसिष्यसि, न संशयः ।

शब्दार्थ—आधत्स्व—लगाओ, निवेशय=लगाओ, अत ऊर्ध्वम्=इसके उपरान्त ।

अनुवाद—मुझ में ही मन को लगाओ और मुझ में ही बुद्धि को लगाओ अर्थात् मन और बुद्धि से निरन्तर मेरा चिन्तन करो, इसके उपरान्त तुम मुझ में ही निवास करोगे अर्थात् इस प्रकार तुम्हारी मुझ में दृढ़ आस्था बन जायेगी और तुम्हें भक्ति प्राप्त होगी, इसमें सन्देह नहीं है ।

प्रसंग—जिसका मन-बुद्धि ईश्वर में नहीं लगता उसके लिये उपाय बतलाते हुए भगवान कहते हैं—

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम ।
अभ्यासयोगेन ततो मा मिच्छाप्तुं धनञ्जय ! ।।९।।

अन्वय—अथ (त्वम्) मयि चित्तम् स्थिरम् समाधातुं न शक्नोषि, हे धनञ्जय ! ततः (त्वम्) अभ्यासयोगेन माम् आप्तुम् इच्छ ।

शब्दार्थ—स्थिरं समाधातुम्=अविचल भाव से मुझ में लगाने के लिये, अभ्यास योगेन=अभ्यास रूप योग के द्वारा ।

अनुवाद—और यदि (तुम अपने) चित्त को मुझ में अविचल रूप से लगाने के लिये असमर्थ हो, तो हे अर्जुन तुम अभ्यास रूप योग के द्वारा मुझे प्राप्त करने की इच्छा करो ।

भावार्थ—नाना प्रकार की युक्तियों से चित्त को भगवान् में स्थिर करने का जो बार बार प्रयत्न करते रहना है वही अभ्यास योग है। भगवान के जिस-गुण भाव रूप लीला आदि में मन लगे उसी का बार बार अभ्यास करना ही अभ्यास योग है।

प्रसंग—अभ्यास में भी असमर्थजनों के लिये भगवान् कहते हैं—

अभ्यासेऽप्य समर्थोऽसि मत्कर्म परमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यषि ॥१०॥

अन्वय—(यदि त्वम्) अभ्यासे अपि असमर्थः असि, (तर्हि) मत्कर्मपरमः भव। (त्वम्) मदर्थम् कर्माणि कुर्वन् अपि सिद्धिम् अवाप्स्यसि।

शब्दार्थ—मत्कर्मपरमः=मेरी प्रीति के लिये जो व्रतोपवासादि कीर्तनादि कर्म हैं उनमें परायण, अवाप्स्यसि=प्राप्त करोगे।

अनुवाद—(यदि तुम) अभ्यास करने में भी असमर्थ हो तो मेरी प्रसन्नता के लिये नाम कीर्तन व्रतोपवासादि कर्म परायण हो जाओ, मेरे लिये कर्म करते हुए भी तुम सिद्धि को प्राप्त होगे।

प्रसंग—कर्म करने में भी असमर्थ जनों के विषय में भगवान् कहते हैं—

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

अन्वय—अथ एतत् अपि कर्तुम् अशक्तः असि ततः मद्योगम् आश्रितः (सन्) यतात्मवान् (भूत्वा) सर्वकर्मफलत्यागम् कुरु।

शब्दार्थ—एतत्=मदर्थ कर्म, अशक्तः=असमर्थ, ततः=तो, मद्योगमाश्रितः=मेरी प्राप्ति रूप योग के आश्रित होकर अथवा मेरी एकमात्र शरणागति में आश्रित होकर, यतात्मवान्-जिसने मन बुद्धीन्द्रिय सहित शरीर पर विजय प्राप्त कर ली हो उसे यतात्मवान् या यतात्मा कहा जाता है।

अनुवाद—यदि तुम यह भी अर्थात् मदर्थ कर्म भी करने के लिये असमर्थ हो तो मेरी प्राप्ति रूप योग के आश्रित होकर अथवा केवल एक मेरी शरणागति को प्राप्त होकर, यतात्मा बन कर सभी कर्मों के फलों का त्याग करो।

भावार्थ—यतात्मा द्वारा सर्वकर्मफलत्याग भी भगवत्प्राप्ति का साधन है।

प्रसंग—कर्मफलत्याग का महत्व बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

अन्वय—अभ्यासात् हि ज्ञानं श्रेयः, ज्ञानात् ध्यानं विशिष्यते, ध्यानात् कर्मफलत्यागः श्रेष्ठः त्यागात् अनन्तरं शान्तिः ।

शब्दार्थ—अभ्यासात्=सम्यक् ज्ञान से रहित अभ्यास की अपेक्षा, श्रेयः=श्रेष्ठ है, ध्यानम्=मुझ परमेश्वर के स्वरूप का ध्यान चिन्तन, अनन्तरम्=तुरन्त ही तत्काल ही ।

अनुवाद—सम्यक् ज्ञान से रहित अभ्यास की अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान की अपेक्षा मुझ परमात्म स्वरूप का ध्यान विशिष्ट है और ध्यान की अपेक्षा सर्व कर्मों के फल का त्याग श्रेष्ठ है, क्योंकि फलत्याग के तुरन्त बाद परम शान्ति प्राप्त होती है ।

भावार्थ—परमशान्ति दायक कर्मफल त्याग अन्य उपर्युक्त भक्तिसाधनों की अपेक्षा श्रेष्ठ है ।

प्रसंग—ज्ञानी भक्तों के लक्षण बतलाते हुये भगवान् कहते हैं—

अद्वेष्टा सर्व भूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःख सुखः क्षमी ।।१३।।
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धि र्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।।१४।।

अन्वय—सर्वभूतानाम् अद्वेष्टा, मैत्रः करुणः एव च, निर्ममः निरहंकारः समदुःख सुखः क्षमी, योगी सततं सन्तुष्टः यतात्मा दृड़ निश्चयः मय्यर्पितमनो-बुद्धिः स मद्भक्तः मे प्रियः (अस्ति)

शब्दार्थ—अद्वेष्टा=द्वेष न करने वाला, मैत्रः=सबका प्रिय, करुणः= निःस्वार्थभाव से दयालु, क्षमी=क्षमाशील, यतात्मा=मन बुद्धि इन्द्रिय और शरीर पर विजय प्राप्त करने वाला, दृढ़निश्चयः=मुझ पर अटूट श्रद्धा व विश्वास रखने वाला, मय्यर्पितमनोबुद्धिः=मुझ पर मन और बुद्धि को अर्पित कर देने वाला, मे प्रियः=मुझे प्रिय है ।

अनुवाद—जो मनुष्य सब प्राणियों पर द्वेषभाव से रहित, सबका प्रिय और निःस्वार्थभाव से दयालु भी है, ममता रहित, अहंकार रहित क्षमाशील एवं दुःख और सुख में समान भाव रखने वाला है तथा जो योगी निरन्तर सन्तुष्ट रहने वाला यतात्मवान् एवं मुझ पर दृढ़ विश्वास रखने वाला एवं मुझ पर अपने मन बुद्धि को समर्पित कर देने वाला है ऐसा मेरा भक्त मुझे प्रिय है ।

भावार्थ—इन उपर्युक्त लक्षणों वाला ही सच्चा भक्त ही भगवान् को प्रिय होता है ।

प्रसंग—उक्त प्रसंग में ही भगवान् कहते हैं—

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोदवेगै र्मुक्तोयः स च मे प्रियः ॥१५॥

अन्वय—यस्मात् लोकः न उद्विजते, लोकात् च यः न उद्विजते, हर्षामर्ष-भयोद्वेगैः यः मुक्तः च स मे प्रियः ॥

शब्दार्थ—उद्विजते=उद्वेग को प्राप्त होता, हर्षामर्षभयोद्वेगैः मुक्तः= हर्ष, क्रोध द्वेष, भय, उद्वेग से रहित।

अनुवाद—जिससे (कोई भी) प्राणी उद्वेग को प्राप्त नहीं होता, और जो स्वयं भी (किसी) जीव से उद्वेग को प्राप्त नहीं होता, एवं जो हर्ष अमर्ष भय एवं उद्वेग से मुक्त हो चुका है वह मुझे प्रिय है।

भावार्थ—हर्षामर्षादि से रहित ही भक्त भगवान् को प्रिय होता है।

प्रसंग—उक्त प्रसंग में ही भगवान् कहते हैं—

अनपेक्षः शुचि र्दक्षः उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

अन्वय—यः अनपेक्षः शुचिः दक्षः उदासीनः गतव्यथः सर्वारम्भपरित्यागी मद्भक्तः स मे प्रियः।

शब्दार्थ—अनपेक्षः=सर्वप्रकार की आकांक्षाओं से रहित, शुचिः= =वाह्यान्तः शुद्धः, दक्षः=स्व कर्तव्य निर्वाह में कुशल, उदासीनः=सब प्रकार के पक्षपात से सर्वथा मुक्त, गतव्यथः=रोग, वियोग, धनादि की हानि से उत्पन्न दुःखों से रहित, सर्वारम्भपरित्यागी=सभी प्रकार के कर्मों में कर्तृत्वाभिमान से रहित होना, संसार के सभी क्रिया कलाप को भगवल्लीला मात्र समझना।

अनुवाद—जो आकांक्षा रहित, पवित्रात्मा, वाह्याभ्यन्तर शुद्ध, कर्तव्य कर्म निर्वाह में कुशल, पक्षपात रहित, रोगादिजन्य दुःखों से मुक्त, सभी प्रकार की क्रियाओं में कर्तृत्वाभिमान से रहित मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय है।

भावार्थ—उक्त लक्षणों से युक्त भक्त भगवत्प्रिय होता है।

प्रसंग—उक्त प्रसंग में ही भगवान् कहते हैं—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥१७॥

अन्वय—यः न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति, यः च शुभाशुभ परित्यागी भक्तिमान् स मे प्रियः ।

शब्दार्थ—हृष्यति = प्रियजन या प्रियवस्तु संयोग से प्रसन्न होता है, द्वेष्टि = द्वेष करता है, शोचति = शोक करता है, कांक्षति = कामना करता है, शुभाशुभ परित्यागी = सम्पूर्ण शुभ तथा अशुभ कर्मों का त्याग कर देने वाला ।

अनुवाद—जो न कभी (प्रिय संयोगादि से) हर्षित होता है, न (अप्रिय संपर्क से) द्वेष करता है, न (प्रिय वियोगादि से) शोक करता है और न (अप्राप्त वस्तु की) कामना करता है तथा जो सभी प्रकार के अच्छे और बुरे कर्मों का त्याग करने वाला भक्ति सम्पन्न पुरुष है वह मुझे प्रिय है ।

भावार्थ—शुभाशुभकर्मत्याग से तात्पर्य कर्म फलाकांक्षा के त्याग से है कर्तृत्वाभिमान से रहित होकर निष्काम भाव से प्रारब्ध के अनुसार नियत कर्म ही करना तथा तत्फालाकांक्षा न रखना ही कर्मत्याग है । भक्त समस्त शुभ कर्मों को तो भगवान् को समर्पित कर देता है और उनके फल की आकांक्षा नहीं रखता अतः वह शुभकर्मत्यागी कहलाता है, भक्त होने के कारण मन बुद्धि इन्द्रिय एवं शरीर पर वशवर्तिता होने के कारण भक्त कभी बुरे कर्म चोरी व्यभिचार आदि कर ही नहीं सकता अतएव वह अशुभ कर्मत्यागी भी कहलाता है ।

प्रसंग—इसी प्रसंग में पुनः भगवान् कहते हैं—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ।।१८।।

अन्वय—(यः) शत्रौ च मित्रे च समः, तथा मानापमानयोः समः, शीतोष्ण सुखदुःखेषु च समः एवं सङ्गविवर्जितः ।

शब्दार्थ—समः = समानभाव रखने वाला, सङ्गविवर्जितः = आसक्ति रहित ।

अनुवाद—जो शत्रु और मित्र पर समानभाव रखता है, मान और अपमान में भी समानभाव रखने वाला है, एवं शीत, गर्मी सुख और दुःख में भी एक समान भाव से रहता है तथा सर्वत्र आसक्ति से रहित होता है ।

(इसका आगे के श्लोक से सम्बन्ध है)

प्रसंग—उक्त प्रसंग में ही भगवान् कहते हैं—

तुल्यनिन्दास्तुति मौनी सन्तुष्टो येन केनचित ।
अनिकेतः स्थिरमति भक्तिमान् मे प्रियो नरः ।।१९।।

अन्वय—तुल्य निन्दास्तुतिः मौनी येन केनचित् सन्तुष्टः अनिकेतः स्थिर-मतिः भक्तिमान् नरः मे प्रियः ।

शब्दार्थ—तुल्यनिन्दास्तुतिः=निन्दा और प्रशंसा को समान समझने वाला, मौनी=मननशील मितभाषी, येन केनचित् सन्तुष्टः=जिस किसी भी प्रकार से शरीर निर्वाह मात्र से सन्तुष्ट, अनिकेतः—निवास स्थान के विषय में ममता चिन्ता और आसक्ति से रहित, स्थिरमतिः=दृढनिश्चय ।

अनुवाद—(जो) निन्दा और प्रशंसा को समान समझने वाला, मननशील एवं मितभाषी, जिस किसी अनायास लब्ध वस्तु से शरींर निर्वाह मात्र से सन्तुष्ट, स्थान विशेष के लिये ममता एवं आसक्ति से रहित, ईश्वर में दृढ़-निश्चय रखने वाला भक्त है वह मनुष्य मुझे प्रिय है ।

भावार्थ—उक्त प्रकार का त्यागी भक्त ही भगवत्प्रिय होता है ।

प्रसंग—भक्तियोग का उपसंहार करते हुये भगवान् कहते हैं—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

अन्वय—ये तु श्रद्दधाना मत्परमा यथोक्तम् इदम् धर्म्यामृतम् पर्युपासते ते भक्ताः में अतीव प्रियाः ।

शब्दार्थ—श्रद्दधानाः=श्रद्धालु, मत्परमाः=मुझ पर परायण, यथोक्तम् =ऊपर कहे अनुसार, धर्म्यामृतम्=धर्ममय अमृत को, पर्युपासते=श्रद्धा और प्रेम से सेवन करते हैं ।

अनुवाद—जो मुझ पर श्रद्धा रखने वाले, मुझ ही पर परायण होकर इस ऊपर कहे गये धर्ममय अमृत अर्थात् धर्मयुक्त मेरे उपदेश का श्रद्धा और प्रेम से सेवन करते हैं वे भक्तजन मुझे अत्यधिक प्रिय होते है ।

भावार्थ—भगवान् द्वारा बतलाये गये भक्ति के साधनों एवं भक्तजनों के लक्षणों पर जो श्रद्धा रखकर इन्हें अपनाते है और इन नियमों पर चलते हैं ऐसे भक्त भगवान् को प्रिय होते हैं ।

इति भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः

श्रीमद्भगवद्गीता
गीता सुगीता कर्त्तव्या, किमन्यैः शास्त्र संग्रहैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य, मुखपद्माद् विनिःसृता ॥
गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि, गीता मे चोत्तमं गृहम् ।
गीताज्ञान मुपाश्रित्य, त्रींल्लोकान् पालयाम्यहम् ॥
कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतु र्भू, र्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो, मोक्षयिष्यामि माशुचः ॥